तृतीय अध्याय: हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त कश्मीर

I. कश्मीर की साझी संस्कृति
II. क़बायली हमला
III. हिंसा की राजनीति और कश्मीर
IV. विस्थापन
V. कश्मीरी महिलाओं की स्थिति
VI. आर्थिक संकट
VII. कश्मीर: अस्मिता का संकट

हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त कश्मीर

i. कश्मीर की साझी संस्कृति:

प्राचीन इतिहास, समृद्ध साहित्यिक परंपरा और हिन्दू, मुस्लिम एवं बौद्ध धर्मों के बीच विकसित जीवन ने कश्मीर को सांस्कृतिक रूप से बहुत अधिक समृद्ध किया है। वर्तमान में जब भी कश्मीर पर चर्चा होती है तो उस चर्चा के केंद्र में सामान्यत: राजनीति, हिंसा और आतंकवाद ही रहता है लेकिन कश्मीर की इससे इतर भी एक साझी सांस्कृतिक पहचान रही है, जिसके पुरोधा ललद्यद और शेख नुरुद्दीन ऋषि हैं।

रामधारी सिंह संस्कृति के संबंध में लिखते हैं, "संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जब भी दो देश वाणिज्य-व्यापार अथवा शत्रुता या मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं, तब उनकी संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे दो व्यक्तियों की संगति का प्रभाव दोनों पर पड़ता है।"[1] रामधारी सिंह दिनकर के इस वक्तव्य को यदि कश्मीर के संदर्भ में देखे तो वहाँ कश्मीरी पंडित और मुसलमान वर्षों न केवल साथ-साथ रहते आए थे बल्कि भौगोलिक परस्थितियों के कारण उनका खान-पान और पहनावा भी लगभग समान था। उनकी धार्मिक पहचान भले अलग हो लेकिन उनकी सांस्कृतिक विरासत एक थी। जैसा कि मोहन कृष्ण दर लिखते हैं, "कश्मीरी लोग विभिन्न धर्मों के अनुयायी होते हुए भी सांस्कृतिक रूप से एकता के सूत्र में बंधे हैं। मुसलमान हिन्दुओं के साधू सन्यासियों का आदर-सत्कार करते हैं तथा हिन्दू उनके पीर और फकीरों को पूजते हैं। श्रीनगर के मुसलमानों की शाह हमदान की मस्जिद हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के पवित्र स्थान है। इसी प्रकार पीर पंडित बादशाह की जियारत को कश्मीरी हिन्दू व मुसलमान सभी श्रेष्ठ मानते हैं।...पुलवामा में पखरपुर एक जियारत है, जहाँ आस-पास के ग्रामों के हिन्दू व मुसलमान फसल काटने के समय चढ़ावा चढ़ाने जाते हैं।"[2] लेकिन इस आधार पर यह दावा भी नहीं किया जा सकता है कि कश्मीरी पंडितों और

मुसलमानों के बीच कोई धार्मिक भेदभाव या मतभेद नहीं था। जैसा कि अशोक कुमार पाण्डेय लिखते हैं, "एक अल्पसंख्यक समाज के रूप में सदियों से कश्मीरी पंडित मुसलमानों के साथ रहता चला आया था। हमने देखा है कि यह कहना तो उचित नहीं होगा कि दोनों के बीच कोई मदभेद नहीं रहा लेकिन साथ रहते-रहते जैसे एक सहकार और सहजीवन विकसित हो जाता है वह तो था ही। दोनों की संस्कृति समान थी, भाषा एक थी और कश्मीरी होने का आत्मसम्मान भी।"[3] अर्थात साथ रहते-रहते दोनों धर्म के लोगों ने सामंजस्य से जीवन जीना सीख लिया था क्योंकि अपनी-अपनी धार्मिक पहचान के अलावा भी उनकी एक पहचान थी जो दोनों के लिए एक थी, वह थी- कश्मीरी होने की पहचान। यह साझी पहचान ही कश्मीरियों के आपसी संबंधों को और अधिक प्रगाढ़ बनाती है।

कश्मीरी समाज धार्मिक भेदभाव से मुक्त नहीं था, लेकिन उस भेदभाव का कारण आतंक एवं हिंसा न होकर वे नियम, मान्यताएं और रूढ़ियाँ थीं जो हर मानव-समाज में विद्यमान होती हैं। ललद्यद एवं शेख नुरुद्दीन के उपदेशों को मानने के बाद भी कश्मीरी-समाज में एक-साथ अथवा एक बर्तन में भोजन करने से परहेज रहा है, जो भारत के अन्य प्रान्तों की संस्कृति में भी मिलता है। 'कथा सतीसर' उपन्यास में चित्रित है कि अजोध्यानाथ का परिवार अपने घरेलू सहायक महदजू को भले अपने परिवार का हिस्सा मानता हो लेकिन वे दोनों धर्म के आधार पर निर्धारित अपनी सीमाओं को नहीं भूलते हैं। कात्या महदजू की बनाई चाय उसके प्याले में पीने की ज़िद करती है लेकिन "महदजू जानता था, क्योंकि उम्र और अनुभवों ने उसे मज़हबों के दायरों से खूब वाकिफ कराया था।...तमाम प्यार से रखने के बावजूद इसकी माँ समावार से महदू के प्याले में चाय उंडेलते, प्याले और समावार के बीच पाँच अंगुल का फासला रखती है। कहीं समावार की चोंच चीनी प्याले से छू न जाए।...पर बच्चे ये दीन-मजहब की हद है क्या जाने?"[4]

धर्म के आधार पर खान-पान में यह भेदभाव केवल कश्मीरी पंडितों में नहीं था बल्कि कश्मीरी

मुसलमान भी इससे अछूते नहीं थे। 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास के सादिक़ और अम्बरनाथ बहुत अच्छे दोस्त थे। सादिक़ अम्बरनाथ की बहन शबरी को अपनी बहन मानते थे। जिसका उदाहरण था कि वे अपनी जान जोखिम में डालकर शबरी की अमानत 'डेजहोर-अटहोर', जो वह कश्मीर छोड़ते वक़्त सादिक़ के पास अमानत के रूप में रख आई थी, को लौटाने दिल्ली जाते हैं, लेकिन खानपान में भेदभाव की मानसिकता से यह संबंध भी उन्हें मुक्त नहीं कर पाया था। दिल्ली में सादिक़ शबरी के घर खाना तब खाते हैं, जब वह उन्हें विश्वास दिलाती है कि इससे उनकी धार्मिक मान्यताओं को कोई ठेस नहीं पहुंचेगी। कुछ स्थानों पर यह भेदभाव ख़त्म होता भी दीखता है। इस उपन्यास की तृप्ति जब कश्मीर जाती है तो शबरी की सहेली शीरीं उसके लिए खाने का टिफ़िन भिजवाती है। तृप्ति जब शीरीं के घर जाती है तो "तृप्ति को पहले केसर-बादाम-इलाइची वाला दूध पेश किया गया। उसने भोजन के समय तक न रुक पाने की माज़रत की तो उसके समक्ष नानबाई की रोटी के साथ रोगनजोश और क़ीमा-मटर पेश हुआ। प्रिंस की माँ एक कटोरी में घर के बगीचे के हाख की सब्ज़ी लेकर आयी।"[5] वहीं 'कथा सतीसर' उपन्यास के कात्या और इमरान घर से दूर जाते समय रास्ते में अपना खाना बांटकर खाते हैं। कात्या अपने घर का बना 'रोगनजोश' इमरान को देती है और इमरान के घर से आया 'रिस्ता' स्वयं खाती है। ऐसे उदाहरण उपन्यासों में बहुत कम हैं और उसी संदर्भ में आए हैं जब ये कश्मीरी पात्र कश्मीर से बाहर जाकर भेदभाव की मानसिकता से मुक्त हो जाते हैं। कश्मीरी-समाज भले खानपान के इस भेदभाव से पूरी तरह मुक्त न हो, लेकिन उनके आपसी संबंधों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। यह उनके सामान्य जीवन का हिस्सा था, जिसे वे अन्यथा नहीं लेते थे। खान-पान का यह भेदभाव कश्मीरी जीवन में सहज ही स्वीकार्य था। कश्मीरी रचनाकारों ने अपने उपन्यासों में जिन 'साझे संबंधों' का चित्रण किया है वह इन धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं को त्यागकर नहीं बल्कि उसमें रहते हुए ही निभाएं जाते हैं। इन उपन्यासों में केवल कश्मीर की 'साझी संस्कृति' का चित्रण कर कश्मीरियों के आपसी संबंधों का आदर्श स्थापित

नहीं किया गया है, अपितु कश्मीरी जीवन में घुलेमिले भेदभाव को माध्यम बनाकर उनके संबंधों का चित्रण किया गया है। जिसका आधार ललद्यद और शेख नुरुद्दीन की विरासत है। नाज़िर अपनी कविता में लिखते हैं, "चु ज़ाल दीवी बलस चांग्य, बु छुस मशीदि बलुक बांग्य,/ म्ये रोट काबा, च़े बुतखान, चुँ म्योन बोय, बु चोन बोय। (तुम देवी के मन्दिर में दीप जलाओ, मैं मस्जिद मे अज़ान दूंगा। मैं काबा की शरण में जाऊँगा, तुम बुतखाने की। तुम मेरे भाई हो और मैं तुम्हारा भाई।)"[6] यह कविता कश्मीरियों के उस सहजीवन का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ 'बुतखाने' और 'मस्जिद' में जाने के बाद भी कश्मीरी आपसी सम्मान, सहमती और साझेदारी से रहते हैं। इसी 'साझी संस्कृति' को आधार बनाकर कश्मीरी रचनाकारों ने कश्मीरी-जीवन के वृहत्तर पक्ष को सामने रखा है, जहाँ बारूद के भय के साथ त्योहारों का उल्लास भी है।

'ऐलान गली ज़िन्दा है' उपन्यास के पात्र "अनवर मियाँ शिया मुसलमान हैं। मुहर्रम में तजिये के पीछे उनका पहला नम्बर होता है, यह बात दूसरी है कि वे जन्माष्टमी पर श्रीकृष्ण का पालना बड़े चाव से बनाते हैं। हरे लाल साटन की कतरनें श्रीकृष्ण का झुला सजाने के लिए महिना-भर पहले ही बटोरते हैं, और झाँकीवाले दिन माँगनेवालों में खुलकर बाँटते हैं।"[7] अनवर मियाँ केवल अपने नहीं बल्कि दूसरे धर्म का भी सम्मान करते हैं। वह कश्मीरी पंडितों के त्योहारों में केवल औपचारिकतावश बधाई नहीं देते बल्कि यथासंभव उसमें सहयोग भी करते हैं। यह कश्मीर की साझी संस्कृति का ही उदाहरण है कि कश्मीर में शिवरात्रि या जन्माष्टमी के दिन ही शुभकामनाएं देने की प्रथा नहीं थी बल्कि ईद भी कश्मीरी साथ मनाते थे। "एक तो शिवरात्रि उस पर सलाम के दिन ईद! दोनों उत्सव पर मेल मिलाप और मुबारकबाद देने की प्रथा को बरकरार रखना जरूरी था।"[8] एक-दूसरे के उत्सवों में शामिल होना, मुबारकबाद देना इस उपन्यास के गलिवासियों की संस्कृति थी। जिसे उन्होंने अपने पूर्वजों से ग्रहण किया था और बाद की पीढ़ियों के लिए संजोया था। उनकी यह 'सांस्कृतिक पहचान' संबंधों के साझेपन को बचाए-बनाए रखने का माध्यम थी।

'कथा सतीसर' उपन्यास में कश्मीरी मुसलमानों के त्यौहार का भी चित्रण किया गया है। जहाँ कात्या और उसकी दिद्दा अशी दाई के इमामबाड़े में मुहर्रम का जुलूस देखने जाती हैं, "मुहर्रम का जुलूस सभी से अलग किस्म का रहता। हुजूम के हुजूम लोग हुसैन-हुसैन...पुकारते, रोते, छाती पीटते ताज़ियों के साथ-साथ चलते।...खिड़कियों से झाँकती औरतों की आँखें गीली हो जातीं। हिन्दू माँएँ, मुसलमान माँएँ, भीगा माहौल सभी माँओं के कलेजों में हूक उठता। आखिर सभी लाल तो माँओं की कोख से ही जन्म लेते हैं न?"[9]

ऐसे कई उदाहरण उपन्यासों में मिलते हैं जहाँ कश्मीरी पंडित और मुसलमान दोनों ही अपने-अपने धर्म को मानते हुए पीढ़ियों से चले आ रहे संबंधों का निर्वाह करते हैं। इन संबंधों को हिंसा की राजनीति ने प्रभावित भले किया हो लेकिन वे ख़त्म नहीं हुए हैं। 'कथा सतीसर' उपन्यास में 'लल्ली और खुर्शीद' के माध्यम से कश्मीरियों के उन सबंधों का चित्रण किया गया है जो धर्म की सीमाओं से परे जाकर मनुष्यता के आधार पर बने थे। इस उपन्यास की पात्र लल्ली की माँ सरस्वती लल्ली के जन्म के बाद से ही अस्वस्थ रहने लगी थी जिसके कारण वह लल्ली को अपना दूध भी नहीं पिला सकती थी। ऐसी स्थिति में खुर्शीद बिना किसी स्वार्थ के लल्ली को अपना दूध पिलाती है। ख़ुर्शीद इस उपन्यास की ऐसी पात्र बनकर आती है जो भले पढ़ी-लिखी न हो लेकिन इंसानियत और धर्म के सच्चे अर्थ से वह भली-भाँति परिचित है। जैसा कि उपन्यास में चित्रित है, "ख़ुर्शीद बच्ची को गोद में लेते ही माँ बन गई। धर्म-दीन को लेकर कोई बहस नही हुई।...वक्ते जरूरत मुसलमान स्त्रियाँ हिन्दू बच्चों को अपना स्तनपान करातीं और 'दोदु मोज्य' कहलातीं।"[10] खुर्शीद लल्ली से अपना संबंध ताउम्र निभाती है। कश्मीरी मुसलमान स्त्रियों का हिन्दू बच्चों की 'दोदु मोज्य' अर्थात दूध पिलानेवाली माँ बनना कश्मीर में आम बात रही है और ऐसा करने में उनका धर्म भी बाधक नहीं था। ऐसा ही उदाहरण 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास में भी देखने मिलता है, जहाँ शबरी की माँ के बीमार होने पर राहत बोबा उसे अपना दूध पिलाती है। इससे न ही शबरी के घरवालों को कोई आपत्ति होती है और न राहत बोबा के

घरवालों को कोई ऐतराज। इन दोनों उपन्यासों में पात्रों के माध्यम से कश्मीरियों के उन संबंधों को उजागर करने का प्रयास किया गया है जो धर्म, साम्प्रदायिकता, आतंक और हिंसा भी ख़त्म नहीं कर सकती है। खुर्शीद और लल्ली के माध्यम से जहाँ मानवता के आधार पर बने कश्मीरियों के आपसी संबंधों का चित्रण है वहीं अशी दाई के माध्यम से कश्मीरी पंडितों और मुसलमानों के आपसी निर्भरता का कारण आर्थिक भी है। श्रम और अर्थ की यह निर्भरता कई बार आवश्यकता और अर्थ-लाभ के घेरे से निकलकर मानवीय संबंधों को भी मजबूत करती थी। अशी दाई अपने बेटे रहमान द्वारा किए जा रहे पंडित विरोधी विचार और भड़काऊ भाषण के समर्थन का विरोध करते हुए कहती है, "अरे मुए, यह भेदभाव बाहरवालों की फितरत है। अपने मुलुक में यह फर्क नहीं चलेगा। दूध-शक्कर की तरह मिले बटा-मुसलमान को कोई जुदा कैसे करेगा? बोल? मैं तेरी अम्मा अशी, दाई का काम करके चार पैसे कमाती हूँ। हिन्दू जनानी मुसलमान जनानी में फर्क करुँगी? बटनी बुलाए तो मना करुँगी? अगर करूँ भी तो खाऊँगी क्या और टब्बर को खिलाऊँगी क्या?...तू तो लीडर बनेगा, जो चार पैसा कमाता था ताँगा हाँककर, उससे भी हाथ धो लिए तूने।...अब ज़ेबा कुंजड़न साग बेचते बटा-मुसलमान देखेगी? ग्वाला गफूर हिन्दू घरों में दूध नहीं देगा? दर्जी उनके कपड़े नहीं सिएगा? हाँ? हाँजी नदी पार नहीं उतारेगा? बोल?"[11]

जयश्री राय के उपन्यास 'इक़बाल' में मुज्तबा के माध्यम सांप्रदायिक सोच द्वारा क्षत-विक्षत किए जानेवाले कश्मीरियों के साझे संबंधों को बनाए-बचाए रखने का प्रयास मिलता है। मुज्तबा आतंकजनित परिस्थितियों में भी अपने कश्मीरी पंडित मित्रों को किसी-न-किसी बहाने अपने घर में बुलाता रहता था क्योंकि वह चाहता था कि उसके बच्चे संबंधों की आवश्यकता और आत्मीयता को समझ सकें और भविष्य में भी इन संबंधों को कायम रख सकें। वह चाहता था कि उसके बाद की पीढ़ी यह जान सकें की कश्मीरी की संस्कृति वह नहीं है जो वर्तमान में बंदूक के आधार पर बनाई जा रही है, जहाँ लोगों के मन में दूसरे धर्म के प्रति विद्वेष उत्पन्न किया जा रहा है बल्कि वह है जहाँ सभी साथ रहते हैं, जहाँ संबंध धर्म के आधार पर नहीं प्रेम और विश्वास के

आधार पर निभाएं जाते हैं। मुज्तबा जैसे पात्रों की यह पहल हिंसक गतिविधियों द्वारा भेदभाव उत्पन्न किए जाने के प्रयास को अहिंसक और शांतिपूर्ण तरीके से असफल किए जाने का बेहतर उदाहरण है।

कश्मीरियों के आपसी संबंधों का उदाहरण 'नरमेध' उपन्यास में भी देखने मिलता है। इस उपन्यास के पश्मीना शालों के व्यापारी सोमनाथ कौल और शालों पर कढ़ाई करने वाले बशीर मियाँ में केवल व्यापारिक संबंध ही नहीं था, बल्कि दोनों "में भाइयों से भी गहरी मोहब्बत और रिश्ते-नातेदारों से भी अधिक आत्मीयता थी।...ईद हो या दिवाली, दोनों घरों के बच्चों के लिए ईदियाँ और मिठाइयाँ एक समय एक ही पॉकेट से आतीं- जाने बशीर मियाँ ने खर्चा या सोमनाथ चचा ने! सोमनाथ कौल ब्राह्मण थे बशीर मियाँ अपने को तातारी खून बताते थे; दोनों का एक ही समय किसी एक रसोई में बैठ भोजन करते देखना कोई अचम्भा न था। बशीर मियाँ जब हज को गए थे, तो पूरा घर-परिवार भाई सोमनाथ को सौंप कर निकले थे। जब तक लौटकर नहीं आए, सोमनाथ की पत्नी ने उनके परिवार को घर पर चूल्हा नहीं जलाने दिया।"[12] यह अलग बात है कि बिगड़ते माहौल में इन साझे संबंधों का लिहाज भले बना रहा हो लेकिन उसकी उष्णता गायब होने लगी थी। बावजूद इसके ऐसे संबंध यह उम्मीद अवश्य देते हैं कि एक दिन संभवत: सब पहले जैसा हो जाएगा, क्योंकि बढ़ते आतंक और हिंसक माहौल में भी सभी कश्मीरी मुसलमानों ने पंडितों का विरोध नहीं किया था और न ही पंडितों के लिए सभी मुसलमान उनके शत्रु थे। बढ़ते संदेह और अविश्वास के बावजूद संबंधों में कायम भरोसे का कारण सुल्तान जू जैसे लोगों के यह विचार हैं कि "इन सियासी चोंचलों से हमउम्रों के खुलूस पर खाक डालें, यह तो कोई दानिशमंदी न हुई। रहना तो हमें साथ ही है न?...हम अपनी नमाज़ पढ़ते हैं, तुम अपना पूजा-पाठ करते हो, रस्ते अलग पर मकसद तो एक ही है। बाकी तो कोई फर्क नहीं अल्लाह के बंदों में।"[13]

कश्मीर एक बहुधर्मी प्रदेश रहा है। यह किसी एक विशेष धर्म का अधिकार क्षेत्र न होकर उन सभी लोगों का है जो वहाँ के निवासी हैं, चाहे वे किसी भी धर्म से संबंधित हों। ऐसे में कश्मीर को

लेकर लिया गया कोई भी निर्णय चाहे वह उसकी स्वतंत्रता का ही क्यों न हो एकपक्षीय नहीं लिया जा सकता है। कश्मीर में कट्टरपंथियों द्वारा आज़ादी के नारे में कश्मीरी पंडितों के लिए कोई स्थान नहीं था, क्योंकि उन्हें वह कश्मीर चाहिए था जो 'पंडितों के बिना लेकिन उनकी स्त्रियों के साथ हो'। उपन्यासों में चित्रित है कि ऐसे कई मुसलमान हैं जो इस बात को समझते हैं कि यह नारा कश्मीरी मुसलमानों को उनका हक़ दिलानेवाला नहीं बल्कि कश्मीरी पंडितों को उनके अधिकारों से वंचित करनेवाला है। 'नौशीन' उपन्यास के इक़बाल को आज़ादी भी तभी स्वीकार है जब वह कश्मीरी पंडितों के साथ मिले, इसमें उनकी भी सहमती एवं इच्छा शामिल हो। दूसरे शब्दों में कहें तो, कश्मीर संबंधी कोई भी निर्णय बंदूक के बल पर नहीं बल्कि वहाँ के सभी निवासियों को साथ लेकर, उनकी सहमती से ही लिया जाना चाहिए। किसी एक वर्ग को कश्मीर से निकालकर अथवा किसी वर्ग को उपेक्षित कर लिया गया निर्णय कश्मीर की सांस्कृतिक पहचान पर आघात सिद्ध होगा। इन्हीं विचारों के कारण कश्मीरी संकटपूर्ण माहौल में न केवल एक-दूसरे का हौसला बढ़ाते हैं बल्कि एक-दूसरे की मदद भी करते हैं। 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास में उस समय का चित्रण है जब पाकिस्तान द्वारा आज़ाद कश्मीर से किए गए 'यथास्थिति समझौते' को तोड़ दिया गया था और कश्मीर में अचानक नमक की बहुत अधिक कमी हो गई थी। ऐसे समय में अम्बरनाथ अपने घर में रखा नमक हब जू को दे देतें हैं, बिना यह सोचे कि बिना नमक के उनका काम चलेगा। हब जू नमक लेकर अम्बरनाथ से कहता है, "खुदा तुम्हें लम्बी उम्र दे...इज्जत दे...आज नमक का डला क्या तुमने मुझे जिन्दगी दी है।...बीस दिन हुए ज़बान को नमक का स्वाद चखे।...मरी ज़बान को क़ाबू में कर भी ले कोई पर जिस्म का क्या करे! टाँगों से जान निकलती रहती है। हाथ सूई में धागा डालने लायक़ नहीं रहे। नमक ज़िन्दगी है बेटा ज़िन्दगी...खुदा तुम्हारा भला करे।"[14] वहीं 'पाषाण युग' उपन्यास के सज्जाद और मंसूर जैसे लोग दंगे और कर्फ्यू के माहौल में अपने बीमार पड़ोसी बृजमोहन की यथासंभव मदद करते हैं। सज्जाद जहाँ अपने दूधवाले से दूध लाकर बृजमोहन जी के घर में देता है वहीं उसका बेटा मंसूर,

परिस्थितियों और कश्मीरी पंडितों पर बढ़ते खतरे को समझते हुए, बृजमोहन जी के बेटे राजू को उनकी दवाई लाने के लिए बाहर नहीं जाने देता है, बल्कि स्वयं जाकर उनकी दवाई लाता है। वहीं 'नरमेध' उपन्यास में नरेंद्र के पिता हिंसक घटनाओं के कारण कई दिनों तक अपनी दुकान नहीं खोल पाए थे। इसके बावजूद भी कश्मीर छोड़कर जाने का ख्याल भी उनके मन में नहीं आता है, बल्कि वे भी कश्मीरी मुसलमानों की ही तरह वक्त बदलने का इंतज़ार करते हैं। कश्मीर में सुरक्षित रहने का भरोसा उन्हें उन लोगों से मिलता है जिनके साथ उनके वर्षों पुराने संबंध है, "वर्षों से जिन मुस्लिम मित्रों के भाईचारे में रह रहे थे, उन्हीं का सहारा लिये काले दिनों के बीतने की प्रतीक्षा थी। युवा पीढ़ी के बदलते तेवरों से वे प्राय:आतंकित हो उठते थे, किंतु बुजुर्गों के प्यार और खुलूस पर उन्हें बड़ा भरोसा था।"[15]

दंगे और विस्थापन के दौर में कश्मीरी मुसलमानों की कश्मीरी पंडितों की मदद के क़िस्से लगभग सभी उपन्यासों में हैं। जो इन उपन्यासों को उस एकपक्षीय धारणा से बचाते हैं, जिसके तहत पूरे कश्मीर को पंडित विरोधी मान लिया जाता है। 'दर्दपुर' उपन्यास में जहाँ धर्म के आधार पर हुए पंडितों के शारीरिक, मानसिक और आर्थिक शोषण का विस्तृत और मार्मिक चित्रण किया गया है, वहीं उन पक्षों को भी अनदेखा नहीं किया गया है जहाँ मुसलमानों ने क़बायली हमले के दौरान अपने घरों से भागे पंडितों की यथासंभव मदद की थी। सुधा की बुआ उसे बताती है कि क़बायली हमले के दौरान जब कश्मीरी पंडित जन भागकर एक गाँव पहुँचे तो, "स्थानीय लोगों ने हमें चावल दिए और एक भागे हुए हिन्दू लोगों के घर के बर्तन। हमने एक जगह मिट्टी खोदी और चूल्हा बनाया। और एक मुट्ठी हांडी में मुंग चढ़ाया जो वहाँ के किसी कृपालु मुसलमान ने दी थी।"[16] वहीं 'कथा सतीसर' उपन्यास की शोभावती क़बायली हमले के दौरान यूसुफ लोन की मदद से अपने परिवार के साथ सुरक्षित गाँव से बाहर निकल पाई थी। यूसुफ लोन ने अपनी जान की परवाह किए बिना गाँव से बाहर निकलने में उनकी मदद की थी।

कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में ऐसे प्रसंगों का भी चित्रण है जहाँ कश्मीरी पंडित अपना घर और

संपत्ति मुसलमान पड़ोसियों अथवा दोस्तों के पास अमानत रखकर कश्मीर से बाहर निकले थे। बलराज पूरी भी इस सन्दर्भ में लिखते हैं, "Moreover, while there is evidence to the effect that many Muslims took pains to guard the houses left vacant by their neighboring Kashmiri Pandits"[17]

'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की शबरी अपना घर छोड़ना नहीं चाहती थी। सादिक़, जिन्हें वह अपना भाई मानती है, उसे सुरक्षा के लिहाज से कश्मीर से बाहर जाने को तैयार करते हैं और अपने बेटे के साथ उसे सुरक्षित दिल्ली भेजते हैं। घर से निकलते समय शबरी उन्हें अपने गहने देते हुए कहती है, "माँ का डेजहोर और अटहोर है...उसके गले के भी कुछ गहने हैं...सोचा था अभिनव की बहु उम्मीद से है उसकी गोद भर जाएगी तो दूँगी...अब आप सँभालकर रख लीजिए। ये मेरे बच्चों की अमानत है। आकर ले लूँगी।....अपने पुरखों का सब आपके सहारे छोड़े जा रही हूँ। अम्बरनाथ की दहलीज़ तक अब आपके हवाले।"[18] शबरी अपने गहने और घर की चाभी सादिक़ को इस विश्वास के साथ देती है कि वह उसके घर और उसकी अमानत का ध्यान रखेंगे, उसे सुरक्षित रखेंगे। शबरी का सादिक़ पर यह भरोसा विपरीत परिस्थितियों में भी इंसानियत के बचे रहने और संबंधों की गरिमा के बने रहने का उदाहरण है। सादिक़ के लिए भी शबरी द्वारा सौपीं गई अमानत केवल गहने या चाभी नहीं थी, बल्कि वह विश्वास था जिसकी कोई क़ीमत नहीं थी। वह क़र्ज़ था जिसके तले वे स्वयं को दबा महसूस करते थे। सादिक़ जब शबरी की अमानत लौटाने दिल्ली जाते हैं तो बीच रास्ते में दहशतगर्द उनके सामान की तलाशी लेते हैं। सादिक़ किसी तरह उनसे उन गहनों को बचा लेते हैं, लेकिन उस दौरान उन्हें यह महसूस होता है कि यदि दहशतगर्द उनसे गहनों को ले लेते और उन्हें ज़िन्दा भी छोड़ देते तो भी वह स्थिति सादिक़ के लिए मौत से कम नहीं थी। शबरी की अमानत को न संभाल पाने की शर्म उन्हें जीवित नहीं रहने देती।

साझी संस्कृति के आधार पर बने संबंध इतने प्रगाढ़ रहे हैं कि कश्मीरी पंडितों के विस्थापन के

बावजूद भी वह पूरी तरह ख़त्म नहीं हुए। 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा जब कश्मीर जाती है तो अपने पड़ोसी टाठा और उसके परिवार से मिलती है तब "दो चित्र निकालकर टाठा ने सुधा को पकड़ाये।"[19] वह तस्वीरे सुधा के परिवार की थी जिसे उन्होंने अब सुधा को देने के लिए संभालकर रखी थी। सुधा के परिवार के कश्मीर छोड़कर जाने के इतने वर्षों बाद भी टाठा द्वारा उसके पारिवारिक तस्वीर को संभालकर रखना दरअसल केवल तस्वीर को बचाए रखना नहीं है बल्कि साझी संस्कृति को भी बचाए रखने का उदाहरण है।

वहीं 'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता जब कश्मीर जाती है तो उसके मुसलमान परिचित न केवल खुले मन से उससे मिलते हैं बल्कि उससे अपने घर में रुकने का आग्रह भी करते हैं। अमिता को हवाई अड्डे पर लेने गया वज़ीर उससे बार-बार अपने घर में रहने का आग्रह करता है और अमिता का उसके घर न रुकने का निर्णय उसे आहत करता है। उसे ऐसा लगता है जैसे अमिता को अब कश्मीरी मुसलमानों पर भरोसा नहीं रहा है। वज़ीर के लिए यह स्थिति भले दुखद हो लेकिन उसके भीतर इस एहसास का बचे रहना सुखद है क्योंकि वह मनुष्यता और संवेदनशीलता के बचे-बने रहने का उदाहरण है। जहाँ वर्षों बाद मिलने पर भी संबंधों में औपचारिकता हावी नहीं हुई है, बल्कि अपनापन और आत्मीयता बची हुई है। अत: केवल कुछ लोगों की सांप्रदायिक सोच के आधार पर यह धारणा बना लेना कि कश्मीरियों के मन से मानवता, विश्वास और सद्भावना जैसे भाव बिल्कुल ही ख़त्म हो गए हैं अनुचित है। इन भावों के बचे रहने का ही उदाहरण है कि अमिता जब वज़ीर के घर जाती है तो उसे वहाँ बहुत ही अपनापन और स्नेह मिलता है। जैसा कि वह कहती है, "मैंने रात का खाना वहीं खाया। वजीर की अम्मी ने सब कुछ मेरी पसंद का पकाया था और बेहद प्यार से खिलाया भी। रात को वही रूक जाने की जिद भी की।"[20]

उपन्यासों में आए ये प्रसंग इस बात का उदाहरण हैं कि कश्मीर के सांप्रदायिक माहौल में भी वहाँ कि साझी संस्कृति और उसके आधार पर बने संबंध बचे हुए हैं। उपन्यासों के पात्र, चाहे कश्मीरी

पंडित हो या कश्मीरी मुसलमान, भेदभाव की नीति का विरोध करते हुए अपनी एकता का परिचय देते रहे हैं। आपसी भरोसे और साझेदारी के आधार पर बने संबंध केवल उपन्यासों में ही चित्रित नहीं हैं बल्कि कश्मीरी पंडितों के साक्षात्कारों एवं इतिहास संबंधी किताबों में भी इनका जिक्र किया गया है, जो इस बात का प्रमाण है कि यह केवल उपन्यासकार की कल्पना नहीं है बल्कि 'कश्मीर की साझी संस्कृति' और उसके आधार पर निर्मित जीवन-पद्धति का यथार्थ है।

सोनिया जब्बर की 'डॉक्यूमेंट्री' 'Autumn's Final Country' (Presented by Asian Women's Human Rights Council', 2004) में कश्मीरी पंडित इंदु कीलम का साक्षात्कार शामिल है। इंदु कीलम कश्मीर से विस्थापित होकर जम्मू में रहती हैं। इस साक्षात्कार में वह लगभग 1980 के आस-पास के अपने निजी अनुभव को बताते हुए वह कहती हैं कि 'कश्मीर में अपने काम से घर लौटने के समय उन्हें एक गली पार करनी होती थी जो सुनसान रहती थी। उस गली के ठीक पहले एक दुकान थी जिसमें दूध बिकता था और उस दुकान की मालकिन को सब अम्मा कहते थे। जब कभी इंदु कीलम को काम से घर लौटने में देर हो जाती थी तब वह उस अम्मा से कहती थी कि वह उन्हें उनके घर तक छोड़ दे और अम्मा बड़ी ही सहजता से उनके साथ चल देती थी।' इंदु कीलम का अम्मा पर यह भरोसा और अम्मा के मन में इंदु कीलम के प्रति ज़िम्मेदारी का भाव उन सभी गलत धारणाओं को खंडित करता है, जो कश्मीरियों के आपसी संबंधों के संदर्भ में बनाई जाती रही हैं।

अशोक कुमार पाण्डेय अपनी किताब 'कश्मीर और कश्मीरी पंडित' में लिखते हैं, "अनंतनाग के पास वलरहामा गाँव में रह रहे रतनलाल तलाशी बताते हैं कि 1989 में माहौल बहुत ख़राब हो गया था लेकिन पास के कोलर गाँव में कांग्रेस के एक बड़े नेता थे ग़ुलाम नबी। उनके रहते आसपास के गाँवों के पंडित सुरक्षित महसूस करते थे। उनकी हत्या कर दी गई तो पंडितों ने गाँव छोड़ने का निर्णय लिया"[21] उद्धरित प्रसंग इस बात का उदाहरण है कि मनुष्यता और मानवीयता के आधार पर बने रिश्तों को धर्म केन्द्रित राजनीति भी प्रभावित नहीं कर सकती है। उनमें दूरियां

भले आ जाए लेकिन वह टूट नहीं सकते हैं। उपन्यासों में पात्रों के माध्यम से इन संबंधों को दिखाकर कश्मीर की उस छवि को तोड़ने का प्रयास किया गया है जहाँ केवल रक्त, आंसू, अविश्वास और घृणा है। बल्कि वहाँ ऐसे लोग भी हैं जो अपने-अपने धर्म को मानते हुए भी दूसरे धर्म का पूरा सम्मान करते हैं। चाहे लल्ली-खुर्शीद का संबंध हो, साजिक़-अम्बरनाथ का संबंध हो या शबरी-राहत बोबा का संबंध हो, इन्होंने कश्मीर की साझी संस्कृति को बिगड़ते माहौल में भी बचाए रखा था, क्योंकि इनके लिए शेख नुरुद्दीन की वाणी 'एक ख़ुदा है लाखों उसके मगर नाम हैं/ नाम उचारे उसका तृण की पत्ती पत्ती' जीवन जीने का आधार है। उपन्यासों में पात्रों के माध्यम से हिंसक माहौल में भी कश्मीरियों के आपसी संबंधों को बचाए रखने के प्रयास का चित्रण इस बात का प्रमाण है कि कश्मीर की संस्कृति भय, हिंसा और घृणा की नहीं बल्कि सद्भावना, परस्पर सम्मान और साझेदारी की है। इसी मार्ग पर चलकर आतंक और हिंसा से कश्मीर को बचाया जा सकता है।

ii. **क़बायली हमला:**

सन् 1947 में भारत की स्वतंत्रता के बाद कश्मीर के राजा हरिसिंह ने कश्मीर को स्वतंत्र रखने का निर्णय लिया था और 22 अक्तूबर सन् 1947 में कश्मीर पर क़बायली हमला हो गया। इस हमले के संबंध में पी. एन. के बम्ज़ाई लिखते हैं, "On 22 October 1947, a large force of armed raiders entered Muzaffarabad in 300 lorries and began looting and burning. They were armed with modern weapons, including brenguns, stenguns, grenades, heavy mortars, anti-tank rifles and land-mines and an unlimited supply of ammunition."[22]

कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों जैसे, 'कथा सतीसर', 'नरमेध', 'दर्दपुर' और 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' में क़बायली हमले का चित्रण भी विस्तार से किया गया है। यह बात अब लगभग सिद्ध हो

चुकी है कि इन हमलावरों को पाकिस्तान का सहयोग प्राप्त था। जैसा कि 'इंडियन एक्सप्रेस', 26 अक्तूबर 1947 में प्रकाशित इस ख़बर में देखा जा सकता है-

Indian Express

Pakistan Afridis Invade Kashmir

PEOPLE RESIST NIZAM'S POLICE AND MILITARY

Clashes In Smart Village

Govt. Of India To Respond To Appeal For Help

TRIBESMEN ENTER STATE IN TRUCKS ARMED WITH MODERN WEAPONS

Arson, Murder And Loot Of Non-Muslims

Inciting Race Hatred, War Form Of War-mongering

MRS. PANDIT ON LIMITATIO OF SOVIET RESOLUTION

कश्मीर के पाकिस्तान में विलय हेतु राजा हरिसिंह पर दबाव बनाने के लिए पाकिस्तान ने उनके साथ किए गए 'यथास्थिति' समझौता तोड़ दिया और जैसा कि 'नरमेध' उपन्यास में चित्रित है, "पाकिस्तान इस पर्वतीय राज्य को हड़प लेना चाहता था, अतः उसने शरारत से पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के क़बायली पठानों को सैनिक सहायता से कश्मीर की सीमाओं में भेजना शुरू किया। घुसपैठ इतनी बड़ी कि कुछ ही दिनों में हजारों की संख्या में क़बायली पठान कश्मीर घाटी में घाटी में घुस आए और नियमित सेना का रूप धारण कर राज्य की साधारण सेना का दमन करने लगे।"[23]

क़बायली हमलावर उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के जनजाति समुदाय से थे और अशिक्षा एवं गरीबी से जूझ रहे थे। ऐसे में उन्हें धर्म के आधार पर भड़काना आसान था। इन हमलावरों ने कश्मीर पर कब्ज़ा करने के उद्देश्य से आक्रमण किया था। इनका उद्देश्य कश्मीर को डोगरा शासक हरिसिंह के शासन से मुक्त करवाना था, लेकिन वे कश्मीर में घुसकर गैर मुसलमानों की हत्या कर रहे थें, उनकी संपत्तियों को लूट रहे थें और औरतों के साथ दुर्व्यवहार कर रहे थें। इन हमलावरों द्वारा की

जानेवाली धन और कीमती वस्तुओं की लूट ने कश्मीरियों की आर्थिक स्थिति को भी प्रभावित किया और यह प्रभाव उनके जीवन पर बहुत समय तक बना रहा। क़बायली हमला केवल कश्मीर की भूमि या वहाँ के निवासियों के जीवन और संपत्ति पर ही नहीं था बल्कि उनके आत्मसम्मान पर भी था। जिसने भारत की स्वतंत्रता के बाद स्वतंत्र कश्मीर के तमाम राजनैतिक उथल-पुथल और संशय के बावजूद एक बेहतर भविष्य की उम्मीद की थी। कश्मीर पर हुए क़बायली हमले के लिए न राजा हरिसिंह तैयार थे और न ही कश्मीरी जनता तैयार। इन हमलावरों को रोकने के लिए राजा हरिसिंह ने भारत से मदद मांगी लेकिन मदद मिलने से पूर्व कश्मीरी जनता को बहुत कुछ झेलना पड़ा। कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में इस हमले के दौरान कश्मीरियों की उस दयनीय स्थिति का चित्रण किया गया है जहाँ उनके पास भागने-छिपने के अतिरिक्त अन्य कोई भी विकल्प नहीं बचा था, क्योंकि सशस्त्र क़बायलियों के सामने कश्मीरी जनता निहत्थी थी। मीरा कांत ने अपने उपन्यास 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' में इस हमले का चित्रण करते हुए लिखा है, "आधुनिक हथियारों से लैस भारी संख्या में क़बाइलियों ने कश्मीर की सीमा में मुजफ्फराबाद से प्रवेश किया। लूटमार मचाते इन आक्रमणकारियों ने बारामूला पर धावा बोला। हजारों लोगों को मौत के घाट उतारा, घरों में आग लगाई, बेहिसाब स्त्रियों के साथ बलात्कार हुए। 'फेंसिसकैन मिशनरीज़ ऑफ़ मेरी' की चौदह विदेशी ननों को भी नहीं बख़्शा। ननें फ्रेंच, स्कॉटिश, स्पैनिश, इटैलियन और पुर्तगाली नागरिक थीं। इन मिशनरियों के अस्पताल के मरीजों तक को मार डाला गया।"[24] क्षमा कौल ने अपने उपन्यास 'दर्दपुर' में उस भयावह स्थिति का चित्रण किया है जहाँ गर्भवती और सद्य: प्रसूता स्त्रियाँ क़बायली हमलावरों से बचने के लिए रातों-रात पलायन करने को मजबूर थी। इस उपन्यास की स्त्री-पात्र, जिसकी बेटी केवल दो दिन की थी, कहती है, "मैं सद्य: प्रसूता। बच्ची को मैंने चलते-चलते ही स्तन मुँह में दिया...पर कितना...न मेरे स्तनों में यथेष्ट दूध था, न कहीं रूककर इत्मीनान से उसे पिलाने की मोहलत ही थी।"[25] वह अपने दो दिन की बच्ची के रोने की आवाज़ को जबरदस्ती रोकने और भागते हुए ही

उसे दूध पिलाने को मजबूर थी, क्योंकि बच्ची के रोने की आवाज़ से क़बायली हमलावरों को उनकी उपस्थिति का आभास होने का खतरा था। वहीं दूसरी स्त्री को भागने के कारण सातवें माह में ही प्रसव पीड़ा आरंभ हो गई। कोई भी स्त्री उसकी मदद करने के लिए उसके पास नहीं रुकना चाहती थी क्योंकि सभी को क़बायली हमलावरों के आने का भय था। भय की इस स्थिति में मानवीय संवेदनाएं और सहानुभूति गौण हो गई थी, मुख्य थी तो केवल ज़िन्दा बचे रहने की चिंता। इस उपन्यास में क़बायली हमले के दौरान केवल एक स्त्री की नहीं बल्कि उस माँ की बेबसी और अंतर्द्वंद को भी दिखाया गया है जो अपनी बच्ची को पेड़ के नीचे छोड़ देना चाहती थी। वह मान चुकी थी कि अब उनका बचना संभव नहीं है लेकिन फिर भी उसके मन में यह आस थी कि शायद उसकी बच्ची बच जाए। वह अपनी आँखों के सामने उसे मरते नहीं देख सकती थी। एक माँ द्वारा उठाया जानेवाला यह कदम उस क्रूरता को भी उजागर करता है जहाँ हमलावर इतने निर्मम थे कि उनकी उपस्थिति में दो दिन की बच्ची भी सुरक्षित नहीं थी। क़बायली हमलावरों ने केवल कश्मीरी पंडितों, सिखों एवं विदेशी ननों को ही अपना निशाना नहीं बनाया बल्कि उन कश्मीरी मुसलमानों की भी हत्या की जो उनके राह में बाधक बन रहे थे। क़बायलियों द्वारा बारामूला में रहनेवाला पच्चीस साल का "मक़बूल शेरवानी जैसा सेक्यूलर मुसलमान भी कीलों से बेध दिया गया था।"[26] मकबूल भट्ट ने क़बायली हमलावरों की सूचना देकर उन्हें पकड़ने में भारतीय सेना की मदद की थी। इसकी खबर लगते ही उन्होंने मकबूल भट्ट को बहुत निर्दयता से मार दिया था।

'कथा सतीसर' उपन्यास में अजोध्यानाथ के परिवार के माध्यम से कश्मीरियों की उस मन:स्थिति का चित्रण किया गया है जहाँ वे क़बायली हमलावरों के आने की सूचना पाकर भागने अथवा उनका सामना करने के अंतर्द्वंद से जूझ रहे थे। क़बायली हमलावरों के शहर में आने से क्या होगा यह सोचकर ही कश्मीरी भयभीत थे क्योंकि उनकी निर्दयता और निर्ममता के क़िस्से वे दूसरी जगहों से भागकर आए अपने संबंधियों से सुन चुके थे। अत: ऐसी स्थिति में न ही वे अपने घर

की स्त्रियों को अपमानित होते हुए देख सकते थे और न ही बच्चों और वृद्धों को लेकर भागना ही सबके लिए संभव था, क्योंकि यदि भागते भी तो कहाँ तक भागते और भागकर कहाँ जाते? आत्महत्या अथवा अपने हाथों घर की स्त्रियों को विष देना भी वे पाप समझते थे। अत: प्रतीक्षा करने के अलावा उनके पास और कोई विकल्प नहीं था। अजोध्यानाथ के घर के लोग "चाकू, छुरियों से लेकर धान कूटने का 'मुहुल' बल्लम, केन, सोटियाँ इकट्ठा करते रहें। ताता की वह तलवार भी बक्से से निकली गई जो राजा बहादुर के जन्मदिन पर बधाई देने हाज़िर होते वक्त, अचकन-गाउन पहन कमर में लटकाई जाती थी।...मोटे हत्थेवाली तलवार उठाने में ही उन्हें काफी वज़नी लगी, पता नहीं ज़रूरत पड़ने पर वे उस तलवार का क्या उपयोग कर पाते!"[27] उनके ये मामूली हथियार, जिसका उपयोग उन्होंने इसके पूर्व कभी भी आत्मरक्षा के लिए नहीं किया था, वह क़बायली हमलावरों की बन्दूकों के सामने कैसे टिक पाएँगे, यह वे भी नहीं जानते थे। इस कठिन समय में शेख अब्दुल्ला और उनकी पार्टी 'नेशनल कांफ्रेंस' ने भारतीय सेना की सहायता की साथ ही कश्मीरियों को भी इन हमलावरों के खिलाफ़ एकजुट करने का प्रयास किया। 'नेशनल कांफ्रेंस' की 'नेशनल मालिशिया' में स्त्रियाँ भी शामिल थीं, जहाँ उन्हें आत्मरक्षा के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। क़बायली हमलावर बारामूला तक ही पहुँच पाए थे और उनके श्रीनगर पहुँचने से पहले ही भारतीय सेना कश्मीर में पहुँच गई। जैसा कि पी. एन के. बम्ज़ाई लिखते हैं, "With the occupation of Baramula by the raiders, Srinagar itself was threatened. They, however, lost four valuable days in looting and killing in Baramula and when they after all marched on Srinagar, they met with resistance from the local militia and the Indian Army which ultimately proved to be their doom."[28] क़बायली हमलावरों ने बारामूला में लूटपाट, हत्या एवं बलात्कार करने में जो समय व्यतीत किया उसने भारतीय सेना को अपनी रणनीति बनाकर उन्हें रोकने का समय दिया। इस संबंध में 'इंडियन एक्सप्रेस' में प्रकाशित 10 नवंबर, 1947 की इस

ख़बर को देखा जा सकता है-

LIVERITES

Indian Express

INDIAN TROOPS TAKE BARAMULA

Raiders Fleeing Main Road

THREAT TO SRINAGAR REMOVED

Great Blow To Invaders

भारतीय सेना के कश्मीर पहुँचने की खबर कश्मीरियों के लिए जीवनदान था। सेना के कश्मीर आने पर वे हमलावरों से तो बच गए थे लेकिन इस घटना ने उनके विश्वास को बुरी तरह आहत कर दिया था। वह विश्वास था- कश्मीर में सुरक्षित होने का। वे कश्मीरी जो विभाजन के दौरान हुए दंगों से भी बचे हुए थे उनके लिए यह घटना न केवल अप्रत्याशित थी बल्कि कई प्रश्न भी खड़े करती थी। जैसे, यदि भारतीय सेना समय से कश्मीर न पहुँचती, उन्हें स्थानीय लोगों का सहयोग न मिलता, क़बायली हमलावर लूटपाट, हत्या और बलात्कार जैसे कुकृत्य में अपना समय न गंवाते तो जो बचे थे उनका क्या होता? कश्मीर का क्या होता? प्रश्न कई थे लेकिन उत्तर एक भी नहीं था, जैसा कि कश्मीर के संदर्भ में होता रहा है। अत: इस घटना से उपजे घाव भले भर गए हों लेकिन उसके निशान का मिटना आसान नहीं था। 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा की माँ पर इस हमले का बहुत गहरा असर पड़ा था। सुधा की माँ ने वर्षों से चाभियों का गुच्छा संभाल कर रखा था। उस गुच्छे में चाभियाँ तो कई थीं लेकिन घर में उनके ताले सुधा ने नहीं देखे थे। जब वह अपनी माँ से पूछती है कि उन चाभियों की ताले कहाँ हैं तो वह कहती है, "ताले?...ताले? ताले ढूँढती हो? वो तो स्वाहा हो गये। क़बायलियों ने जब गाँव जलाया उसमें सन्दूक और अलमारियाँ

राख हो गयीं। बच गयी हैं चाबियाँ...जैसे बचती हैं स्मृतियाँ और जैसे बचते हैं स्मृतियों के अक्स काल्पनिक रेखाओं में।"[29]

'कथा सतीसर', 'नरमेध', और 'दर्दपुर' उपन्यास में क़बायली हमले का चित्रण जहाँ पूर्वदीप्त शैली में किया गया है वहीं 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की कथा वर्तमान में चलती है। इस चित्रण में पात्रों के नाम भले अलग-अलग हो लेकिन उनकी पीड़ा, उन्हें मिली यातना, उनका भय और अंतर्द्वंद एक है। भारतीय सेना द्वारा क़बायली हमलावरों पर भले काबू पा लिया गया हो लेकिन उस दहशत और भयावहता को भूलना कश्मीरियों लिए असंभव है।

iii. **हिंसा की राजनीति और कश्मीर:**

"कल्हण पंडित ने जिस कश्मीर को कभी 'धरती का स्वर्ग' कहा था, वह आज आतंकवाद का गढ़ बना, रक्त-सने रणक्षेत्र में तब्दील हो गया।"[30] जिसका परिणाम है कि एक आम कश्मीर जो सुकून और अमन की ज़िन्दगी चाहता है वह दहशतगर्दों और सेना के बीच पिस रहा है। हिंसा की राजनीति ने कश्मीरियों के जीवन अलग-अलग तरीके से प्रभावित किया है। आतंकवाद के कारण कश्मीरी पंडितों ने जहाँ विस्थापन, हत्या और भय को झेला है, वहीं कश्मीरी मुसलमान भी आतंक, सेना-पुलिस की सख्ती, पूछताछ और संदेह की बलि चढ़ गए। निदा नवाज अपनी डायरी 'सिसकियाँ लेता स्वर्ग' में लिखते हैं, "मैंने अपने कानों से मिलिटेंटों की धमकियाँ भी सुनी हैं और फ़ौजियों की गालियाँ भी, मैंने मिलिटेंटों के हाथों निर्दोष लोगों को मरते भी देखा है और फ़ौजियों की फ़र्ज़ी झड़पें भी देखी हैं। मैंने मुख्यधारा से संबंधित राजनेताओं की चालें भी देखी हैं और धर्म की दहलीज़ पर बैठे मौलवियों के तुच्छ करतूत भी।"[31]

कश्मीर में आए दिन होनेवाली सेना और दहशतगर्दों के बीच मुठभेड़ में कई लोगों ने अपनी जान गवाई हैं। जिनमें सेना और दहशतगर्दों के साथ-साथ आमजन भी शामिल हैं, जिसे 'इंडियन होम मिनिस्ट्री एंड साउथ एशिया टेररिज्म पोर्टल (नई दिल्ली)' द्वारा जारी इस रिपोर्ट में देखा जा

सकता है-

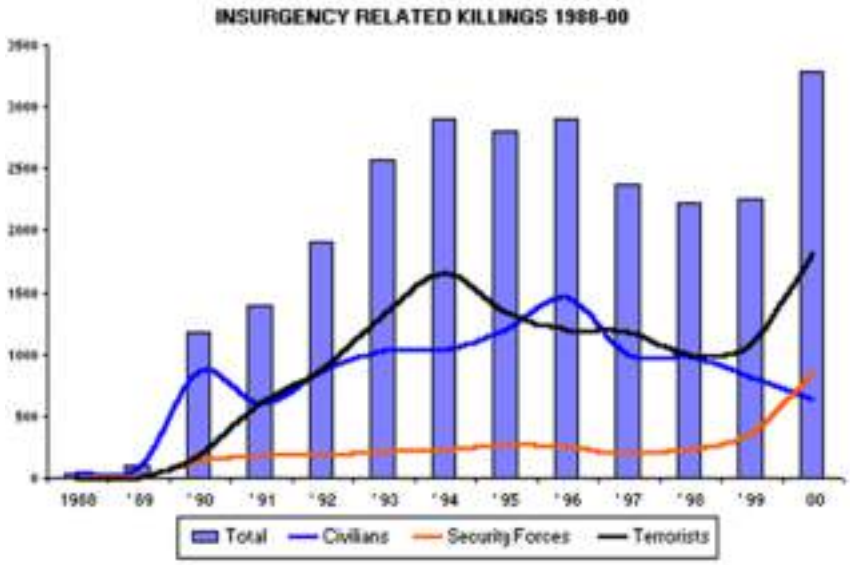

यह डेटा एक वेबसाईट से लिया गया है। बहुत हद तक संभव है कि अन्य जगह दिए गए आंकड़ों में कुछ अंतर हो लेकिन यहाँ मायने संख्या नहीं जीवन रखता है। हर वह जीवन जिसका अधिकार है सामान्य माहौल में रहना, एक दूसरा मौका मिलना, अपनी बात सुने जाना लेकिन एक गोली या एक धमाका और एक पूरा जीवन, पूरा परिवार तबाह हो जाता है।

यह स्थिति कश्मीर का वह सच है जिसे सभी अपनी-अपनी सुविधानुसार पेश करते हैं। कश्मीरियों का पक्ष चाहे जो रहा हो लेकिन वे किसी भी पक्ष के साथ सुरक्षित नहीं है, क्योंकि किसी एक का साथ देते ही वे दूसरे के शत्रु हो जाते हैं। ये वे कश्मीरी हैं जो सामान्य जीवन जीने के हकदार हैं, लेकिन वे असमान्य होते जीवन को भोगने के लिए अभिशप्त हो गए। आतंक और इस हिंसा से उत्पन्न असुरक्षा और अपमान जो कश्मीरियों के जीवन का स्थायी यथार्थ बन गया है उसे झेलनेवालों की त्रासदी और बेबसी का चित्रण उपन्यासों में किया गया है। दहशतगर्दों द्वारा कश्मीरी पंडितों को कश्मीर छोड़ने हेतु दी जानेवाली यातना हो या मुसलमानों को उनकी बात न मानने के लिए मिलनेवाली सज़ा हो, वह इतनी अधिक निर्मम रही है, जिसकी कोई भी संवेदनशील इंसान कल्पना नहीं कर सकता है। दहशतगर्दों की इस क्रूरता का चित्रण करते हुए

निदा नवाज़ लिखते हैं, "उन्होंने जेहाद की आड़ में, इस्लामी क्रांति लाने और इस्लामी शासन की स्थापना करने की आड़ में, वो गुल खिला दिए हैं जिनको देख-सुन कर आम आदमी के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सीमा पार के अपने आक़ाओं की शाबाशी बटोरने के लिए उन्होंने कितने निर्दोष लोगों की हत्या की, कितने घरों को उजाड़ दिया, कितने बच्चों को अनाथ किया, कितनी औरतों को विधवा बना दिया यह जग ज़ाहिर है। इन मानव अधिकारों के उल्लंघन पर घाटी भर में मौजूद तथाकथित बुद्धिजीवियों का एक अनपढ़, सांप्रदायिक सोच रखने वाला टोला हमेशा पर्दा डालता आया है। सीमा के उस पार मिलिटेंटों के इन कारनामों को सदैव जेहाद का नाम देकर इस्लाम का अपमान किया जाता रहा है।"[32]

रोज़गार और शिक्षा पर आतंकवाद का प्रभाव-

कश्मीर में फैलते आतंकवाद के कारण केवल आम कश्मीरियों का जीवन ही खतरें में नहीं रहा है बल्कि शिक्षा, रोज़गार के साथ-साथ सामान्य भय-मुक्त जीवन जीने की उनकी इच्छा पर भी संकट है। कश्मीर में हिंसक गतिविधियों, कर्फ्यू और हड़ताल के कारण आए दिन शिक्षण संस्थान बंद रहने लगे। भय के माहौल के कारण पर्यटकों की संख्या में आई कमी ने पर्यटन व्यवसाय को भी बुरी तरह से प्रभावित किया। 'दर्दपुर' उपन्यास की पात्र सुधा, जो विस्थापित कश्मीरी है. जब दुबारा कश्मीर जाती है तो गुलाम तांगेवाला उससे कहता है, "कश्मीर की सुन्दरता और खुशहाली तबाह। नयी पीढ़ियों का अन्त और कुछ नहीं। कुछ भी नहीं।...खुदा की कसम सुधा जी अगर आतंकवाद न आया होता आज पता नहीं कश्मीर ने कितनी तरक्की कर ली होती।"[33]

ऐसी स्थिति में एक आम कश्मीरी, जिसके सामने हर कदम पर सेना और दहशतगर्द का भय हो, हिंसा का माहौल हो, गोलियों-बारूदों का शोर हो, शिक्षा एवं रोजगार का अभाव हो, क्या करे? इन सबका सीधा प्रभाव उनके मन और भविष्य पर पड़ता है। जिस उम्र में बच्चों को स्कूल-कॉलेज जाना चाहिए उस उम्र में वे हिंसक घटनाओं को देखते-झेलते हैं। जिनके पास पैसा है,

सामर्थ्य है वे अपने बच्चों को इस माहौल से दूर बाहर पढ़ने के लिए भेज भी सकते हैं, लेकिन जो अभावग्रस्त हैं उनके और उनके बच्चों के पास यह सब देखने-भोगने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं है। 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की जया जब हबीब मोहम्मद से उसके बच्चों की शिक्षा के विषय में पूछती है तो वह कहता है, "कहाँ जाएँगे स्कूल! नाम तो दर्ज कराया है वहीं एक स्कूल में पर ज्यादातर तो बंद ही रहते हैं स्कूल यहाँ। फिर कब कहाँ बम फट जाए...क्या खबर! अफरा-तफ़री है!"[34]

ऐसे में कोई परिवार यदि जैसे-तैसे फीस अथवा दूसरे ज़रूरी संसाधन जुटा ले तो भी उसके घर का बच्चा स्कूल-कॉलेज जा पाएगा या नहीं यह निश्चित नहीं है, क्योंकि कब कहाँ बम फट जाए, कब दहशतगर्दों और सेना में मुठभेड़ शुरू हो जाए यह कोई नहीं जानता। शिक्षण संस्थान भी अधिकांशत: बंद रहा करते थे। 'शिगाफ़' उपन्यास की यास्मीन अपनी डायरी में लिखती है, "अजीब-सी बात है कि गाँव-के-गाँव हिन्दुओं से खाली हो गए हैं। अब्बू के स्कूल के दस हिन्दू टीचर चले गए...कोई पढ़ानेवाला नहीं बचा है।"[35] जो कश्मीरी पंडित कश्मीर छोड़कर गए उनका केवल घर ही खाली नहीं हुआ बल्कि कर्मक्षेत्र में वे स्थान भी रिक्त हो गए जहाँ वे काम करते थे। ऐसे में जो स्कूल-कॉलेज में पढ़ाते थे उनके जाने के बाद उनकी जगह वहाँ पढ़ाने वाला कोई नहीं बचा। अर्थात् न शिक्षक बचे न छात्र और जो बचे थे वे भी ऐसे माहौल में पढ़ने-पढ़ाने नहीं जा सकते थे। ऐसे में शिक्षा व्यवस्था का प्रभावित होना स्वाभाविक है।

आतंकी बनने का प्रशिक्षण-

शिक्षा-क्षेत्र में इस अव्यवस्था और उसके कारण प्रभावित होते रोजगार का फ़ायदा दहशतगर्दो ने उठाया। उनके द्वारा शिक्षा और रोज़गार की परेशानी झेलते युवाओं को जबरदस्ती या बहला-फुसला कर आतंकी बनने का प्रशिक्षण बिना किसी भय के दिया जाने लगा। 'कथा सतीसर' उपन्यास में चित्रित है कि किस प्रकार बचपन से ही छोटे-छोटे बच्चों के मन में ही हिंसा और

भेदभाव की भावना भर, उन्हें शिक्षित करने की आड़ में जेहाद की 'ट्रेनिंग' दी जाती थी। कात्या के घर में माली का काम करनेवाले सोन्ना के बच्चे गुला और सुला कात्या के बच्चों अर्जुन और ईशा से बहुत घुलेमिले थे। अर्जुन जब उनसे पूछता है कि उन्हें स्कूल में क्या पढ़ाया जाता है तो गुला मदरसे में पढ़ाये गए पाठ को अर्जुन के सामने दुहराते हुए कहता है, "छोटे बच्चो रहो शान्त। हम बताएँगे, क्या है इस्लाम। तुम कह सकते हो कि फौज भी नहीं तुम्हारे पास। पर तुमको लड़ना है इस्लाम के नाम...हम कश्मीरी हैं। हमारा मुल्क कश्मीर है। यह भारत, चीन और ईरान से घिरा है..."[36] गुला जो तीसरी कक्षा में है उसे शिक्षित करने की आड़ में यह पाठ पढ़ाया जाता है कि कश्मीर चीन और ईरान के साथ-साथ भारत से भी घिरा हुआ है। यानी कश्मीर भारत का हिस्सा नहीं है। यह बच्चे भले अभी इन बातों को नहीं समझते हैं कि अर्जुन और ईशा दूसरे धर्म के हैं और उन्हें उनसे ही कश्मीर को बचाना है, लेकिन जैसे यह पाठ उन्हें याद कराया गया था वैसे ही धीरे-धीरे उनके मन में यह बात भी भर दी जाएगी। शायद वे भी बड़े होकर अर्जुन और ईशा के साथ अपने इस संबंध को भूलकर उसी रसूल अहमद की तरह बन जाएंगे, जो कात्या के पिता केशवनाथ के घर में बैठकर उन्हें दुबारा कश्मीर न आने के लिए अलग-अलग तर्क देता है। गुला और सुला को इस्लाम के नाम पर लड़ने का यह पाठ मदरसे में पढ़ाया जाता है जिसे वे बिना समझे बड़ी मासूमियत से अर्जुन और ईशा को सुना देते हैं, लेकिन जिस दिन वे इसका अर्थ समझेंगे और इस सोच को अपना लेंगे उस दिन शायद ही वह अर्जुन और ईशा के साथ इतनी ही सहजता और अपनापन से रह पाएँगे। इस तरह की बातें बच्चों को सिखाना उनके मन से इंसानियत को ख़त्म कर नफ़रत भरने का पहला चरण है। दूसरा चरण है उनके बड़े होते ही उनके हाथों में बन्दूक थमा देना। जैसा कि 'नौशीन' उपन्यासों में चित्रित है दहशतगर्द कश्मीरी मुसलमानों के घरों में जाकर आज़ादी के नाम पर उनसे उनका बेटा मांगते हैं, "ये आतंकवादी किसी भी घर का नफ़्र माँगने जाते हैं- तुम्हारें दो बेटे है, एक को आज़ादी के लिए दो!"[37] और कई बार वे युवकों को उनके घर से जबरदस्ती भी ले जाते हैं। 'कथा सतीसर' उपन्यास के असलम के

साथ ऐसा ही होता है। एक रात अचानक असलम के घर चार लोग आते हैं और उसे 'जेहाद' के नाम पर अपने साथ जबरदस्ती ले जाते हैं। असलम दहशतगर्दों के साथ नहीं जाना चाहता है बल्कि एक सामान्य जीवन जीना चाहता है। असलम का परिवार भी मजबूर था और उसे बचाने के लिए कुछ नहीं कर पाया क्योंकि विरोध करने का सीधा अर्थ था- पूरे परिवार की मौत। अत: असलम के पास केवल दो ही रास्ते थे- उनकी बात मानकर आतंकी बनने का या उनके हाथों मरने का।

असलम के जाने के आठ साल बाद भी उसकी अम्मी अजीज़ा उसके लौट आने का इंतज़ार करती रहती है। यहाँ तक कि अपने बेटे के इंतजार में वह विक्षिप्त हो जाती है। ऐसी मानसिक स्थिति केवल अजीज़ा की नहीं है बल्कि कई परिवार इस मानसिक पीड़ा और यातना को भोगने को अभिशप्त हैं। जहाँ वे दहशतगर्दों के साथ गए अपने परिवार के सदस्य की वापसी की उम्मीद और उसके मौत के अंदेशे के बीच केवल इंतज़ार ही कर सकते हैं। अज़ीज़ा की मानसिक स्थिति दिन-प्रतिदिन इतनी बिगड़ती गई कि सभी उसके बेटे अल्ताफ को उसका ईलाज करवाने की सलाह देने लगें। अल्ताफ सोचता है, "क्या सचमुच कोई अस्पताल हो सकता है, जहाँ दहशत में जी रही वादी के बीमार, बदहवास और बौराए लोगों का इलाज हो सके? उन माँओं के जख्मी दिलों का इलाज, जो वितस्ता किनारे बेटों के खून से सने कपड़े धोती हैं, उन पिताओं का इलाज, जो बेटों को कन्धा देते अपनी उम्रों का मातम मानते हैं?"[38]

असलम की मौत की खबर उसके परिवार को ख़बरों के माध्यम से मिलती है। उसकी माँ अजीज़ा उसकी मृत देह की तस्वीर देखकर भी यह भरोसा नहीं कर पाती कि दहशतगर्दों के साथ वाला युवक उसका बेटा हो सकता है, क्योंकि जिस बेटे को वह जानती है वह कभी भी किसी की हत्या नहीं कर सकता। अल्ताफ अजीज़ा को असलम की बेबसी से अवगत कराते हुए कहता है, "अम्मी! वे लोग मजबूर कर देते हैं। सिदिक्की के बेटे को बहला-फुसलाकर ले गए। उसका क्या हश्र हुआ, तुम भूल गई? उसने मना किया था कि मैं गन नहीं उठाउँगा। अपने ही लोगों का खून

नहीं करूँगा। उन बेदर्दों ने उसका दायाँ हाथ ही तोड़कर रख दिया।"[39] यहाँ अजीज़ा का विश्वास और असलम की स्थिति उस क्रूर प्रक्रिया की ओर इशारा करते हैं जिसके तहत दहशतगर्द किसी को हिसंक गतिविधियों में शामिल होने के लिए मजबूर करते हैं। असलम जैसे युवक जो सामान्य जीवन चाहते हैं वे भी उनकी धमकियों और यातनाओं के कारण उनकी बात मानने को मजबूर हो जाते हैं, हथियार उठा लेते हैं।

असलम को जहाँ दहशतगर्द जबरदस्ती ले जाते हैं वहीं 'नरमेध' उपन्यास के असगर और सईद को रहमत नाम का व्यक्ति नौकरी और पैसों की उम्मीद देकर अपने साथ ले जाता है। असगर और सईद दोनों बेरोजगार थे और आर्थिक संकट से जूझ रहे थे। ऐसे में जब रहमत उनके सामने रोजगार का प्रस्ताव रखता है तो वे आसानी से उसकी बातों में आ जाते हैं। रहमत असगर और सईद को अपने साथ मुंबई ले जाने के बहाने अपने साथ ले जाता है, लेकिन वह उन्हें मुंबई की जगह उस स्थान पर ले जाता है जो उनकी उम्मीदों से बिल्कुल अलग थी। जहाँ अपनों से दूर मौत का भय था, घर न लौट पाने की विवशता थी और बंदी-सा जीवन था। रहमत के साथ जाने कारण न केवल असगर और सईद का बल्कि उनके परिवार का भविष्य भी बर्बाद हो जाता है। असगर और सईद जैसे युवक एक ओर जहाँ सामान्य जीवन नहीं जी सकते हैं वहीं दूसरी ओर उनका परिवार भी सेना और पुलिस के संदेह के घेरे में आ जाता है। उन्हें भी पूछताछ की कड़ी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है।

जबरदस्ती दहशतगर्द बनाए गए इन युवकों को अपने हुक्मरानों के सभी आदेशों को पूरा करना पड़ता था। जैसा कि 'नौशीन' उपन्यास का इश्तियाक, जो आतंकी बन गया था, बताता है कि "ट्रेनिंग के बाद हम छुप कर सिरीनगर आये। जब चले तो चौदह थे, पर वहाँ पहुँचे तो नौ जने थे। हम भूखे-प्यासे किसी तरह छुपते हुए घाटी में घुसे। वहीं पर मिलिटेंटों ने हमें काम पर लगा दिया। इसको मारो, उसको उठाओ। फलाँ का घर जलाना है, फलाँ को मारना है। हमें जो हुक्म मिलता था, वही करना होता था। उसके अलावा तो जैसे और कुछ सोच ही नहीं सकते थे।"[40] ऐसे युवकों

को स्वयं कुछ भी सोचने या करने का अधिकार नहीं होता। उन्हें सिर्फ आदेश मानना था। वह आदेश चाहे किसी निर्दोष को मारने का हो या किसी भीड़-भाड़ वाली जगह पर विस्फोट करने का हो। दहशतगर्दों द्वारा तैयार किए जानेवाले युवक कई बार जिसे मारते थे उसे जानते तक नहीं थे। न ही मरनेवाले के साथ उनका कोई व्यक्तिगत मतभेद था, लेकिन उन्हें इस तरह तैयार किया जाता है कि वह पैसों की लालच में किसी को भी मारने से नहीं हिचकते। ऐसे युवकों की नज़रों में किसी की ज़िन्दगी की कोई क़ीमत नहीं होती है, क्योंकि उन्हें उनके भीतर की सारी संवेदनशीलता और मनुष्यता मारकर केवल दूसरों की हत्या करने, हिंसा और भय फैलाने का प्रशिक्षण दिया जाता है। जब तक वे इस बात को समझते हैं कि उनके द्वारा की जानेवाली हिंसक गतिविधियों से किसी को कुछ हासिल नहीं होगा तब तक बहुत देर हो जाती है।

उपन्यासों में अलग-अलग परिस्थितियों में आतंकी बने युवकों के माध्यम से कश्मीरी मुसलमान युवकों की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। वे दहशत, हिंसा, अशिक्षा और बेरोजगारी नहीं बल्कि अमन चाहते हैं, सामान्य जीवन चाहते हैं, शिक्षा प्राप्त कर अपने परिवार के लिए कुछ करना चाहते हैं। ठीक वैसे ही जैसे भारत के अन्य प्रदेश के युवा करने का सपना देखते हैं, लेकिन आज़ादी के सपने दिखाकर जो लोग इन युवकों को मौत के मुँह में भेज देते हैं वे यह नहीं सोचते कि इसके बाद इनका भविष्य क्या होगा? इनसे जुड़ी जिंदगियों का क्या होगा? मासूमों की हत्या करते इनके हाथों में बंदूक की जगह कलम होनी चाहिए, आँखों में हिंसा की जगह भविष्य के उज्जवल स्वप्न होने चाहिए, हृदय में घृणा की जगह मनुष्यता और संवेदनशीलता होनी चाहिए, लेकिन अब वे पैसों और धर्म के नाम पर लोगों को मार रहे हैं, मर रहे हैं।

जिन युवकों को दहशतगर्द जबरदस्ती ले जाते हैं उनका परिवार इसी उम्मीद में जीता है कि उनका बेटा शायद पाकिस्तान में होगा और एक दिन लौटकर कश्मीर ज़रूर आएगा। 'नौशीन' उपन्यास के फ़रहाद का भतीजा लगभग एक साल से लापता था और उसके माता-पिता के पास इंतज़ार करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। यहाँ तक कि फ़रहाद के माता-पिता उसके पास

मुंबई भी नहीं आना चाहते क्योंकि उन्हें लगता है कि "अगर पीछे से वो आ गया तो कहाँ जायेगा।...अगर उसकी लाश आ गयी तो उसे मिट्टी कौन देगा। अब तो लाश भी मिल जाये जो ग़नीमत है।"[41] उपन्यास में फ़रहाद के परिवार की इस मन:स्थिति द्वारा उस बेबसी का चित्रण है जहाँ एक परिवार अपने बेटे की लाश का इंतज़ार करता है ताकि कम से कम उन्हें प्रतीक्षा की यातना से मुक्ति मिले, क्योंकि उनके ज़िन्दा रहने की उम्मीद उनके मन को हर पल कचोटती है कि न जाने वह कहाँ होगा, किस हाल में होगा, पता नहीं उसके साथ क्या हो रहा होगा।

उपन्यासों में केवल पुरुष ही नहीं बल्कि स्त्रियों को भी हिंसक घटनाओं में शामिल करने का चित्रण किया गया है। 'शिगाफ़' उपन्यास की जुलेख़ा का जीवन उस दिन पूरी तरह बदल जाता है जिस दिन उसके पिता पैसों की लालच में एक दहशतगर्द को अपने घर में पनाह देते हैं। दहशतगर्द को पनाह देने के कारण जुलेख़ा का परिवार सेना के लिए संदिग्ध हो जाता है। सेना द्वारा की जानेवाली पूछताछ से भयभीत होकर जुलेख़ा का पिता अब्दुल अपनी पत्नी और बेटियों को छोड़कर भाग जाता है। अब्दुल के जाने के बाद उसके हिस्से की सख्ती और पूछताछ भी उसके परिवार को ही झेलनी पड़ती है। रोज-रोज की पूछताछ के कारण जुलेख़ा का मन सेना एवं सुरक्षाबलों के प्रति क्रोध से भर जाता है। इसी दौरान जुलेख़ा अपने घर में पनाह पाए दहशतगर्द सगीर से प्रेम करने लगती है। सगीर उसके प्रेम का फ़ायदा उठाता है और उसे जेहाद में शामिल होने के लिए तैयार करता है। सगीर जुलेख़ा के माध्यम से विस्फोटक सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का कार्य करता है। एक दिन जुलेख़ा सगीर द्वारा दी गई विस्फोटक सामग्री को तयशुदा जगह पर पहुँचाने जा रही थी तभी वह बीच में फट जाता है और जुलेख़ा की मृत्यु हो जाती है। इस उपन्यास की यास्मीन जुलेख़ा के संबंध में अपनी डायरी में लिखती है, "एक सुसाइड बॉम्बर जिसका बम अटैक से पहले फट गया था। मैंने उसके पैरों के टुकड़े देखें जो घुटनों के पास से उधड़कर लटक गए थे। बिखरी हुई आँतें। फिर मैंने खोपड़ी का पिछला हिस्सा देखा और लंबे बालों की चोटी।"[42] जुलेख़ा सगीर की मदद इस उम्मीद में करती है कि वह उससे

निकाह कर इस माहौल से बहुत दूर ले जाएगा और उसे आए दिन की पूछताछ से मुक्ति मिल जाएगी, लेकिन जुलेख़ा को ऐसी मौत मिलती है जिसकी कल्पना भी किसी ने नहीं की होगी। इस उपन्यास में चित्रित जुलेख़ा के प्रसंग द्वारा कश्मीरी स्त्रियों के शोषण के उस पक्ष को दिखाया गया है जहाँ उन्हें बहला-फुसला कर हिंसक गतिविधियों में शामिल किया जाता है। इन स्त्रियों का 'ब्रेनवाश' इस प्रकार किया जाता है कि वे स्वेच्छा से न केवल दूसरों की जान लेने अपितु अपनी जान देने को भी तैयार हो जाती हैं।

आतंकवाद और कश्मीरी पंडित-

कश्मीर में बढ़ती हिंसा और आतंकी घटनाओं के कारण कश्मीरी पंडितों के लिए ऐसा माहौल बनने लगता है जिसके परिणामस्वरूप वे दहशत में जीने को मजबूर हो जाते हैं। हालाँकि हिंसात्मक घटनाएँ कश्मीर में पहले भी हुई थी लेकिन 1986 के बाद यह और अधिक बढ़ गई और कश्मीरी पंडितों को सीधे-सीधे निशाना बनाया जाने लगा। दरअसल 1986 के बाद कश्मीर में बनता माहौल सांप्रदायिक विचारधारा को पोषित करनेवाला रहा है। ऐसे माहौल में गैर मुसलमानों पर अत्याचार, उन्हें धमकियाँ मिलना, अकारण हत्याएं आम घटना हो गई थी। दहशतगर्दों और भारत सरकार के बीच बढ़ते विरोधों और मतभेदों का असर उनपर भी पड़ता था और अलग-अलग आतंकवादी संगठनों द्वारा उन्हें परेशान किया जाने लगा था। जिसक उदाहरण अशोक कुमार पाण्डेय अपनी किताब 'कश्मीर और कश्मीरी पंडित' में देते हैं, "नाम न ज़ाहिर करने की शर्त पर एक कश्मीरी मुस्लिम मित्र ने मुझे बताया कि उनके मुहल्ले में यों ही खेल-खेल में मानसिक रूप से विकलांग एक पंडित को गोली मार दी गई थी।"[43]

कश्मीर में इस्लाम के नाम पर हिंसा फ़ैलानेवालों ने कश्मीरी पंडितों को अपने साथ नहीं बल्कि अपने खिलाफ़ रखा है। उन्हें कश्मीर की आज़ादी चाहिए लेकिन उस आज़ाद कश्मीर में कश्मीरी पंडितों के लिए कोई जगह नहीं है। अत: कश्मीरी पंडितों को अपने ही प्रदेश को छोड़ने की

धमकियाँ मिलने लगती हैं। जैसा कि 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा कहती है, "जिस दिन जे.के.एल.एफ. ने दीवारों पर इश्तहार चिपकाये कि पन्द्रह से पचहत्तर की उम्र के भट्टों की फेहरिस्त बन चुकी है, और इसी उम्र की स्त्रियों की फेहरिस्त भी बन चुकी है। पुरुष जिबह होंगे और स्त्रियों को हम भोगेंगे। उस दिन मैं हिम्मत करके दफ्तर के लिए निकली थी, पर यह सुनते ही प्राण निकल गये।"[44] वहीं दूसरी ओर सड़कों पर कश्मीरी पंडितों के विरुद्ध जुलुस निकलने लगे थे, कश्मीर छोड़ने का नारा लगाया जाने लगा था। इन धमकियों का चित्रण केवल उपन्यासों में ही नहीं बल्कि संस्मरणों अथवा डायरी में भी मिलता है। निदा नवाज़ अपनी डायरी 'सिसकियाँ लेता स्वर्ग' में इस स्थिति का जिक्र करते हुए लिखते हैं, "ऐसा कश्मीर घाटी में तेजी से हो रहा है दफ्तरों में, अस्पतालों में, शिक्षा केन्द्रों में, छोटे पद पर काम कर रहे लोग बड़े पद पर काम कर रहे लोगों को (विशेषकर यदि बड़े पद पर काम करने वाला साफ्ट-टार्गेट हो अर्थात कश्मीरी हिंदू या कश्मीरी बुद्धिजीवी, प्रगतिवादी या राज्य से बाहर का जिस पर आसानी से भारतीय एजेंट होने का लेबल लगाया जा सके) धमकियों भरे फ़ोन काल्ज देकर या उनके घर के मुख्यद्वार पर किसी मिलिटेंट संगठन के लेटर-हेड पर लिखी घाटी छोड़ने की धमकी चिपका कर दहशत पैदा कर जगह ख़ाली की जा रही है। बस इस तरह घाटी में हज़ारों छोटे पदों पर काम करने वाले लोग पलक झपकते ही क्लर्क से हेड, जुनीयर से सीनियर, टीचर से प्रोफ़ेसर, यहाँ तक कि हेड आफ़ दि डिपार्टमेंट बन गए। वाह रे मिलिटेंसी, तेरे भी क्या कहने!"[45]

कश्मीर में हिन्दुओं की हत्या और विस्थापन जैसी घटना के बाद कुछ कश्मीरी मुसलमानों की हुई पदोन्नति, दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें वे पद मिलना जिसके वे योग्य नहीं थे, एक सोची-समझी योजना की ओर इशारा करती है। चूँकि कश्मीरी पंडितों के विस्थापन के बाद उनके पद रिक्त हो गए थे। उन रिक्त पदों पर उनकी नियुक्तियां उनकी हुई जो दहशतगर्दों के साथ थे और हिन्दुओं के खिलाफ़ थे। हालाँकि गैर मुसलमानों का भी कश्मीर पर उनका भी उतना ही अधिकार था जितना मुसलमानों का लेकिन कश्मीर में बनते हिंसक माहौल के कारण उन्हें न केवल विस्थापित और

बेरोजगार होना पड़ा बल्कि कैंपों की यातना भी झेलनी पड़ी। हर किसी की एक अलग कहानी है, अपना दुःख है लेकिन दुःख का कारण एक है- कश्मीर में फैलती हिंसा और आतंकवाद।

उपन्यासों में इस हिंसा के दौरान कश्मीरी पंडितों की स्थिति और मानसिक वेदना का मार्मिक चित्रण किया गया है। दहशतगर्दों द्वारा परिवार के किसी सदस्य को अकारण मार देने पर बाकी सदस्य किस मानसिक पीड़ा से गुजरते हैं इसका उदाहरण 'कथा सतीसर' उपन्यास के रिटायर्ड स्कूल मास्टर के माध्यम से देखा जा सकता है। वह स्कूल मास्टर अपनी बेटी को खोने के बाद विक्षिप्त हो जाता है और कैम्प में बच्चों को इकठ्ठा कर उन्हें कलमा पढ़ने, आज़ादी के नारे लगाने और जेहाद में शामिल होने के लिए कहता रहता है। उसके मन में यह बात बैठ गई थी कि अगर वह मुसलमान होता तो उसकी बेटी ज़िन्दा होती। लोगों के बार-बार समझाने पर भी उसे यही लगता है कि अगर कश्मीरी पंडित मुसलमान बन जाते, कलमा पढ़ते और जेहाद की लड़ाई में शामिल हो जाते तो आतंकी उन्हें छोड़ देते और उसके "घर में घुसकर ताबड़तोड़ गोलियाँ न बरसाते।...शायद उसकी बेटी भी बच जाती।"[46]

वहीं 'पाषाण युग' उपन्यास में अंजली का भाई रवि, जो सेना में था, आतंकी गतिविधियों में मारा जाता है। सेना के अफसरों पर होने वाले हमलों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने उसे और अन्य अधिकारियों के रहने का इंतजाम कड़ी सुरक्षा के बीच 'होटल' में किया था। एक दिन रवि सुरक्षा संबंधी नियमों को नज़रअंदाज करते हुए अपने परिवार से मिलने चला जाता है और वहाँ से लौटते समय उसे गोली मार दी जाती है। बृजमोहन जी रवि की हत्या के बाद अपने परिवार से बार-बार यही कहते हैं कि वे ज़ोर से न रोए और न इस घटना की चर्चा किसी से करें, नहीं तो उन्हें भी मार दिया जाएगा। बृजमोहन अपनी पत्नी की रोने की आवाज सुनकर उन्हें डांटते हुए कहते हैं "खबरदार रोना चीखना बंद करो। शायद मोहल्ले में सभी जानते हैं वह यहां आया था। किसी भी वक्त आकर हमें भून डालेंगे।"[47] इस घटना द्वारा कश्मीरी पंडितों की उस स्थिति को समझा जा सकता है जहाँ वे अपने किसी करीबी व्यक्ति की मौत का खुलकर मातम भी नहीं मना सकते हैं।

यहाँ तक कि वे उसकी लाश भी अपने घरों में नहीं ला सकते हैं। न ही उसका अंतिम संस्कार ही विधि-विधान से कर सकते हैं क्योंकि यह हरकत दहशतगर्दों की नज़र में हिमाकत थी जिसकी सज़ा के तौर पर वह पूरे परिवार को मार सकते थे।

कश्मीरी पंडितों के साथ दहशतगर्दों द्वारा की जानेवाली क्रूरता का अंदाज़ा इस घटना से लगाया जा सकता है, जहाँ वे 'कथा सतीसर' उपन्यास की तारावती के बेटे अजय को गोली मारकर उसे तड़पता हुआ छोड़ देते हैं ताकि उसे देखकर अन्य लोगों में दहशत उत्पन्न हो जाए। अपने बेटे को इस हाल में देख तारावती व्यथित होकर उनसे कहती है, "एक गोली मुझे भी मार दो, फिर एक गोली! तुम्हें खुदा का वास्ता।" बंदूकधारी ने पैरों की ठोकर से तारावती को धकेल दिया, "तुझे मारेंगे नहीं हम। इसे रोनेवाला भी तो कोई चाहिए।"[48] यह क्रूरता दहशतगर्दों की उस मानसिकता को दिखाती है जहाँ संवेदना, सहानुभूति और दया जैसे भाव नहीं बचे थे। दहशतगर्दों का उद्देश्य केवल गैर-मुसलमानों को कश्मीर से निकालना ही नहीं था, बल्कि उनपर अत्याचार करते हुए उनकी पीड़ा से अपना मनोरंजन करना भी था। साथ ही एक ऐसा माहौल बनाना था जहाँ उनके द्वारा निकाला गया व्यक्ति दुबारा कभी लौट कर आने का साहस भी न कर सकें।

उपन्यासों में चित्रित है कि दहशतगर्दों के लिए यह मायने नहीं रखता कि उनके द्वारा निर्ममता से मारे जानेवाले व्यक्ति की उम्र क्या है, उसकी स्थिति क्या है अथवा वह उन्हें नुकसान पहुंचाने के काबिल है भी या नहीं। अपितु उनके लिए मायने केवल व्यक्ति का धर्म रखता है। उसे ही आधार बनाकर वे किसी के साथ व्यवहार करते हैं। 'नौशीन' उपन्यास के पात्र कंठकाक का पूरा परिवार जम्मू चला जाता है लेकिन वह कश्मीर में ही रह जाते हैं। कंठकाक अपने परिवार के दबाव में आकर उनके साथ जम्मू जाने के लिए बस अड्डे पर तो जाते हैं लेकिन वहाँ से चुपके से दुबारा अपने घर चले जाते हैं। उनके मुसलमान पड़ोसी उन्हें समझाते भी हैं कि इस इस उम्र और इन परिस्थितियों में उनका कश्मीर में अकेले रहना सुरक्षित नहीं है, लेकिन सब जानते हुए भी कंठकाक अपना घर छोड़कर नहीं जाते। कंठकाक का यह विश्वास था कि उनके घर में उनकी मृत

पत्नी की आत्मा वास करती है, जिसे अकेले छोड़कर जाना उनके लिए संभव नहीं। दहशतगर्दों की धमकियों और चेतावनियों के बाद भी कश्मीर छोड़कर न जाने की सज़ा उन्हें जल्दी-ही मिलती है। एक दिन कंठकाक का "सारा घर उल्टा-पुल्टा पड़ा था सामानवाली कोठरी में कंठ जू की लाश पड़ी थी। कई जगह पर खून था। पुराने गद्दों पर भी खून था। एक चाकू भी मिला था। पुलिस ने कहा- हो सकता है यहां आतंकवादियों ने टार्चरहाउस बनाया हो।"[49]

'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास के रतनलाल जब शबरी से मिलने उसके घर जाते हैं तो यह चिंता व्यक्त करते हैं कि धीरे-धीरे सभी कश्मीरी पंडित कश्मीर छोड़कर जाने लगे हैं, कहीं ऐसा न हो कि उन जैसे बचे हुए लोगों की लाश को कोई कंधा देनेवाल भी न बचे। अत: उनलोगों को भी अब कश्मीर छोड़कर चले जाना चाहिए। रतनलाल कश्मीर से सुरक्षित बाहर जाना चाहते थे। उनके अब तक कश्मीर में रुके रहने का एकमात्र कारण उनका लकवाग्रस्त भाई था। अपने भाई को ऐसी हालत में न छोड़कर जाना ही उनके लिए संभव था और न ही साथ ले जाना लेकिन जब एक आर्मी अफ़सर उनकी सहायता करने का आश्वासन उन्हें देता है तो वह चाहते हैं कि शबरी भी उनके साथ चले। शबरी को यह सूचना देकर वह जैसे ही बाहर निकलते हैं शबरी को खबर मिलती है कि "यहाँ से बाहर निकलते ही सड़क पर खड़े कुछ आतंकवादी नौजवानों ने रतनलाल को रोका, उनसे बूढी मास्टरनी से जाकर मिलने और उसे शह देने का कारण पूछा और बाद में सरेआम बाज़ार में ही उनका बूढ़ा सीना गोलियों से छलनी कर दिया। फिर खून से लथपथ रतनलाल की तड़पती देह को सड़क पर नाली की ओर धकेल"[50] दिया। रतनलाल की हत्या एक ओर जहाँ कश्मीर में कश्मीरी पंडितों के लिए बनते असुरक्षित माहौल को दिखाती है वहीं उस भयावहता का भी चित्रण करती है जहाँ किसी का जीवन और मृत्यु केवल दहशतगर्दों की इच्छा पर ही निर्भर था।

उपन्यासों में ऐसे भी पात्र आते हैं जो दहशतगर्दों के इन कुकृत्यों को जायज़ ठहराते हैं। अपने पंडित पड़ोसी को सांत्वना देने की जगह वे उन्हें और अधिक डराते हैं। 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा

की पड़ोसी हिचकुकिल और उसका बेटा शब्बीर भय भरे माहौल में उन्हें साहस अथवा सांत्वना देने की जगह और अधिक भयभीत करते हैं, उन्हें कश्मीर छोड़ने के लिए उकसाते हैं। शब्बीर उनसे कहता है, "हम पर कोई ज़िम्मेदारी नहीं चढ़ाना। तुम्हें जाना चाहिए। कुछ पता नहीं किस क्षण क्या हो...पचहत्तर प्रतिशत भट्ट चले गये...क्यों यहाँ नाहक मरने के लिए रुके बैठे हो...सबके पास बन्दूक तो आ गयी है...तुम्हें पता तो है।"[51] शब्बीर के मन में सुधा के परिवार के प्रति चिंता नहीं बल्कि क्रोध है, जो सुधा के परिवार का अब तक कश्मीर में रहने के कारण उपजा है। वह सुधा की संपत्ति और घर को अपने अधिकार क्षेत्र में लेना चाहता है और यह तभी संभव था जब वे लोग हमेशा के लिए कश्मीर छोड़कर चले जाते।

आतंकवाद और कश्मीरी मुसलमान-

हिंसा और आतंक के कारण केवल कश्मीरी पंडितों का ही नहीं बल्कि कश्मीरी मुसलमानों का जीवन भी खतरे में है। दरअसल आतंकियों ने हर उस व्यक्ति को अपने रास्ते से हटा दिया जिसे वे अपने उद्देश्य में बाधक समझते थे। फिर चाहे वह कलमा पढ़ता हो या शिवरात्रि मनाता हो। खुद को इस्लाम का रक्षक कहनेवाले जिहादी, जो इस्लाम को बचाने का दावा करते हैं वे उन मुसलमानों को भी नहीं बख्शते जो उनकी बातों का विरोध करते हैं या उनके निर्देशों को नज़रअंदाज़ करते हैं। आज़ादी और धर्म के नाम पर शुरू हुए इस खेल का शिकार हर मासूम इंसान है। शुरुआत भले कश्मीरी हिन्दुओं से हुई हो लेकिन मुसलमान भी इससे बच नहीं पाए क्योंकि दहशतगर्दों द्वारा प्रायोजित धमाकों का शिकार केवल गैर-मुसलमान या सेना ही नहीं होती बल्कि मुसलमान भी होते हैं। 'पाषाण युग' उपन्यास की शमीम 'ऑफिस' जाते समय बम धमाके में मारी जाती है। शमीम की मौत से जहाँ उसके पूरे परिवार को गहरा सदमा पहुँचता है वहीं उसकी ढाई साल की बेटी, जो मौत का अर्थ भी नहीं जानती, की आँखें हर आने-जाने वालों में अपनी माँ को ही ढूँढती रहती है। शमीम की मौत पर उसकी बहन नसीम को चीखकर रोता देख अंजलि को कुछ ही समय पूर्व हुई अपने भाई रवि की मौत याद आ जाती है। उसे महसूस

होता है कि किसी अपने से बिछड़ने की पीड़ा उसके और नसीम दोनों के मन में थी, लेकिन उस पीड़ा की अभिव्यक्ति में अंतर है। "अंजलि के हिस्से में घुटी हुई रुलाइयां आई थीं। नसीम के पास कलेजा फाड़नेवाली चीख़ें थीं।"[52]

'पाषाण युग' उपन्यास में चित्रित है कि किस प्रकार मुसलमान पुलिस अधिकारियों को, जिनका सेना के साथ मिलना-जुलना था, दहशतगर्दों द्वारा संदेह की निगाह से देखा जाता था। इस उपन्यास की परवीन के पति वक़ार मिर्ज़ा पुलिस में थे। एक दिन ड्यूटी पर जाते समय उनकी 'जिप' पर हमला हो जाता है। इस हमलें में जहाँ वक़ार मिर्ज़ा के दोनों पैरों में गोली लग जाती है वहीं उनके साथी की मौत हो जाती है। पुलिस में होने के कारण बी.एस.एफ. या सेना के साथ मिलकर काम करना उनकी ड्यूटी थी, जिससे वे इनकार नहीं कर सकते थे। अपने उच्च अधिकारियों के आदेशों को न मानने पर उन्हें अपनी नौकरी भी खोनी पड़ सकती थी, लेकिन दहशतगर्दों को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता। उनका एकमात्र उद्देश्य यही है कि कोई भी भारतीय सेना अथवा भारत सरकार की मदद किसी भी रूप में न करे। भले इसके कारण उन्हें कितनी भी परेशानी क्यों न झेलनी पड़े। उनका उद्देश्य केवल पैसे वसूलना और कश्मीरी मुसलमानों को पंडितों और सरकार का विरोधी बनाना है।

वक़ार मियाँ जब दहशतगर्दों की गोली से घायल होकर बिस्तर पर थे, उस समय भी एक आतंकी समूह उनके घर आकर परवीन से पाँच हज़ार रुपए लेकर जाता है। यह स्थिति केवल परवीन की नहीं है बल्कि नसीम भी अंजलि को अपनी स्थिति बताते हुए कहती है कि हर दूसरे दिन कोई-न-कोई हथियार के साथ उनके घर पैसे मांगने आ जाता है। यह कोई एक दिन या एक बार की बात नहीं थी बल्कि देने का कोई अंत नहीं था, "कभी एक पार्टी आती है कि हमें खाना खिला दो। कभी दूसरी कि रात के लिए सोने की जगह चाहिए। हम परेशान की छापा पड़ा या एक पार्टी दूसरे के दुश्मन निकली तो हम बेमौत मारे जाएंगे। नींद हराम हो जाती है रातों की।"[53] आम कश्मीरी मजबूरी और भय के कारण दहशतगर्दों को पनाह और उन्हें पैसे देने को मजबूर हैं लेकिन इसके

बाद भी वे सुरक्षित नहीं है, क्योंकि यदि सेना को इसकी सूचना मिल गई तो उनका पूरा परिवार ही संदेह के घेरे में आ जाएगा। उनके पास अपनी बेगुनाही साबित करने का कोई सबूत नहीं होगा। ऐसे में पनाह लेनेवाले दहशतगर्द भले बचकर निकल जाए लेकिन मज़बूरी में उन्हें पनाह देनेवाला परिवार बर्बाद हो जाएगा। अत: इन परिस्थितियों में जहाँ अपनी सुरक्षा के लिए दहशतगर्दों को पैसे देने पड़े, अपने घर की स्त्रियों की अस्मत लूटते देखते हुए भी मौन रहने को मजबूर होना पड़े वहाँ कोई भी सामान्य जीवन कैसे जी सकता था? बेशक कश्मीरी मुसलमान कश्मीर में बहुसंख्यक हों लेकिन यह भी सच है कि वहाँ उनका जीवन भी सामान्य और सुरक्षित नहीं बचा।

दोहरी नीति-

उपन्यासों में दहशतगर्दों की उस दोहरी नीति का भी चित्रण किया गया है जहाँ उन्होंने अपनी हिंसक और क्रूर प्रवृति को धर्म की आड़ में छुपाकर रखा है। आए दिन होनेवाले धमाकों से दहशतगर्दों की 'कथनी और करनी' में अंतर समझा जा सकता है। जहाँ एक ओर वे मुसलमानों की सुरक्षा का नारा देते हैं वहीं दूसरी ओर उन्हीं के द्वारा किए गए धमाकों में निर्दोष मुसलमान भी मारे जाते हैं। एक ओर वे धर्म की बात करते हैं दूसरी ओर स्त्रियों के साथ बलात्कार और 'मुताअ' करते हैं, पैसे वसूलते हैं, किसी को जबरदस्ती आतंकी बनाकर उसके और उसके परिवार को जीवन बर्बाद करते हैं, हत्या करते हैं अर्थात् वे सब करते हैं जो इंसानियत और नैतिकता की दृष्टि से गलत है, अपराध है। दरअसल ये वे लोग हैं जिन्होंने अपने भीतर की क्रूर और हिंसक प्रवृति को धर्म और जेहाद की आड़ में छिपाकर रखा है। मनुष्य के रूप में जन्म लेने के बावजूद उनके भीतर का दरिंदा मरा नहीं है। वहीं दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो इन दहशतगर्दों का समर्थन करते हैं जबकि उनके ख़ुद के बच्चे कश्मीर से बाहर अपनी ज़िन्दगी सुकून से जीते हैं। 'पाषाण युग' उपन्यास की मिसेज अहमद कॉलेज में पढ़ाती हैं। वह कॉलेज की लड़कियों पर पर्दे में रहने और जुलूस में शामिल होने के लिए दबाव बनाती हैं और दहशतगर्दों द्वारा की जानेवाली

अकारण हत्याओं और हिंसा का खुलकर समर्थन करती हैं, लेकिन अपनी बेटी को वे इस माहौल से बहुत दूर रखती हैं। परवीन अंजलि को मिसेज अहमद के बारे में बताती है "जानती हो, उनकी लाडली बेटी दिल्ली यूनिवर्सिटी में ऊंची पढ़ाई कर रही है। मलमल की चादर तो छोड़ो, उसके बदन से सीधा दुपट्टा तक वहां ग़ायब रहता है और यहां ये बात करती हैं आज़ादी और पर्दे की। मिली हो कभी इनकी बेटी से?...कभी मौक़ा मिले तो देख लेना। उसकी लिपाई-पुताई देखकर हैरान रह जाओगी। यहां आने पर बिटिया रानी खूबसूरत दुपट्टे ओढ़ती हैं, बस। उसे दिल्ली भेजते हुए इनकी आज़ादी की ख़्वाहिश कहां चली जाती है, इनका खुदा बेहतर जानता है।"[54] इस उपन्यास में मिसेज अहमद द्वारा उस मानसिकता पर चोट की गई है जो दूसरों के बच्चों को धर्म और आजादी के नाम पर इस खूनी खेल में शामिल करते हैं जबकि उनके स्वयं के बच्चे कश्मीर के बाहर एक बेहतर जिंदगी जीते हैं।

मोहभंग-

उपन्यासों में आतंकवाद को झेलते कश्मीरी मुसलमानों के मोहभंग का भी चित्रण किया गया है। जैसा कि 'कथा सतीसर' उपन्यास का फय्याज़, जो आज़ादी की लड़ाई में शामिल था, धीरे-धीरे उसकी हकीकत समझने लगता है। एक ओर जहाँ वह अपने हुक्मरानों की दूहरी नीतियों से परिचित होता है वहीं दूसरी ओर यह भी समझने लगता है कि पाकिस्तान अपने राजनीतिक तुष्टिकरण के लिए कश्मीर चाहता है। जिसके लिए वह कश्मीर में हिंसक गतिविधियों को बढ़ावा देता है। उसे कश्मीरियों के सुख-दुख से कोई मतलब नहीं है बल्कि, "पाकिस्तान को कश्मीरियों से कोई प्यार नहीं, उसे वादी चाहिए। नदियों के पानी के लिए, अपनी सुरक्षा और राजनीतिक-सामरिक साठगाँठ के लिए।"[55]

इस उपन्यास में फय्याज़ के मोहभंग द्वारा उस यथार्थ का चित्रण किया गया है जहाँ न केवल आम कश्मीरी मुसलमान बल्कि आज़ादी की मुहीम में शामिल युवक भी युद्ध और हिंसा की निरर्थकता

एवं भयावहता को समझने लगे हैं। वे इस यथार्थ से भी परिचित होने लगे हैं उन्हें इस राह पर भेजनेवाले केवल कश्मीरी पंडितों के ही नहीं बल्कि मुसलमानों के भी शत्रु हैं। वे केवल उनका इस्तेमाल कर रहे हैं कश्मीरी पंडितों को कश्मीर से निकालने के लिए और इस कार्य के लिए वे मुसलमानों से पैसे वसूलते हैं, उनके बच्चों के हाथ में हथियार थमाते हैं, उनकी स्त्रियों का शोषण करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनकी हत्या करने में भी नहीं हिचकतें। जैसा कि 'शिगाफ़' उपन्यास में चित्रित है, "ये जेहादी नहीं। ये मुजाहिदीन भी नहीं। ये बस दहशतगर्द हैं। ये हमारे सरमाएदार नहीं हैं। ये हमारे नौजवान बच्चों को हमसे दूर ले जाते हैं, उन्हें ये अखबार, टीवी और समाज से अलग कर देते हैं, ताकि हक़ीकत से उनका दूर-दूर तक का वास्ता न रहे। जंगे आज़ादी के नाम पर उनके दिमाग साफ़ करते हैं। उनमें फितूर भरते हैं कि ऐसी जेहादी मौत से जन्नत नसीब होती है और जन्नत में हूरें ही हूरें मिलती हैं।"[56]

'शिगाफ़' उपन्यास का वसीम जो यास्मीन द्वारा समझाए जाने पर भी हिंसा और आतंक का मार्ग नहीं छोड़ता। धीरे-धीरे उसे अपनी गलती का एहसास होता है परंतु तब तक बहुत देर हो जाती है। जिस कारण उसका अंतर्मन उसे धिक्कारता है कि उसके द्वारा की गई हिंसक गतिविधियों में जिन मासूमों के जीवन तबाह हो गए उसे दुबारा आबाद करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि संबंधों में आई दरार और मन एवं आत्मा पर पड़े घाव इतनी आसानी से नहीं भरते। हिंसा और नफरत का जो बीज कश्मीर में बोया गया उससे हासिल तो कुछ नहीं हुआ बल्कि कश्मीरियों ने बहुत-कुछ खो दिया। वह सब जिसे वापस पाना शायद संभव नहीं क्योंकि जो खोया है, वह है- विश्वास, संबंध, गुजरा हुआ वक़्त जिसे वापस लाना असंभव है। हिंसा की इस राजनीति ने सबसे अधिक उन कश्मीरियों को ही आहत किया है जो इस खेल में किसी भी रूप में शामिल नहीं है। वसीम सोचता है, "जानता हूँ, शतरंज के खेल का वो हश्र जब शह और मात सुलतान और वज़ीर के हाथ में नहीं रहती तो प्यादों की बाज़ी लगती है।"[57] कश्मीर के सन्दर्भ में ये प्यादें आम कश्मीरी जन हैं। जिनकी बाज़ी बार-बार लगती रही हैं। कभी धर्म के नाम पर, कभी सरकार के विरोध के

नाम पर तो कभी निजी स्वार्थ के नाम पर।

भारतीय सेना और कश्मीरी आमजन-

कश्मीर में एक ओर जहाँ सेना और आतंकियों के बीच जंग है तो वहीं दूसरी ओर सेना और कश्मीरी आमजन का संघर्ष भी है। उपन्यासों में सेना और कश्मीरी नागरिकों के आपसी संबंध और उनके बीच होनेवाले मतभेद के कारणों का भी चित्रण किया गया है। सेना के लिए आम कश्मीरी मुसलमान और आतंकियों के बीच फर्क करना बहुत मुश्किल होता है। कौन दहशतगर्द है, किसने अपने घर में दहशतगर्दों को पनाह दी है अथवा कौन उनका ख़बरी है यह पता लगाने के लिए सेना को तलाशी, गिरफ़्तारी और पूछताछ जैसी प्रक्रिया करनी होती है। जिससे आम कश्मीरियों को भी गुजरना पड़ता है। 'पाषाण युग' उपन्यास में चित्रित है कि कैसे इस प्रक्रिया के कारण आमजन को कई प्रकार की परेशानियों का सामना भी करना पड़ता है। अंजलि जिस मोहल्ले में रहती वहाँ आए दिन सुरक्षाबालों द्वारा तलाशियां और 'क्रैकडाउन' किए जाते थे। एक दिन "कई सिपाही अंजलि के घर की तलाशी लेने के लिए दरवाज़े से अंदर आ गए।...उनमें से एक ने ऊपर के कमरे में पहुंचकर मेज पर रखे बिस्तर को नीचे फेंकना शुरू किया।...सीढ़ियों के पासवाली छोटी सी अलमारी के ताले को उसने हिलाना शुरू किया।...खींचकर ताला तोड़ दिया और अंदर का सारा फ़ालतू सामान सीढ़ियों पर बिखेर दिया। तमाम टूटे-फूटे डिब्बे और फटी हुई चप्पलें आसपास बिखर गईं।...कई किताबें इधर-उधर बिखेर दीं।"[58] सुरक्षा की दृष्टि से यह करना भले सेना की मजबूरी हो क्योंकि उनके सामने आतंकियों को पकड़ने का दबाव होता है, जिसके लिए सख्ती के अलावा उनके पास और कोई विकल्प नहीं होता, लेकिन इस सख्ती के कारण आम कश्मीरियों के मन सेना के प्रति क्रोध भी उत्पन्न होता है। आमजन के मन में उपजे सेना के प्रति क्रोध का फ़ायदा दहशतगर्द उठाते हैं। वे लोगों के बीच घुलमिल कर उन्हें सेना और पुलिस के खिलाफ भड़काते हैं, जिसका बहुत बुरा प्रभाव सेना और कश्मीरी आमजन के आपसी संबंधों पर पड़ता है। दोनों पक्षों के मन में एक दूसरे के प्रति संदेह और अविश्वास उत्पन्न हो जाता है और

दोनों ही अपने ज़हन में इस बात को रखकर एक-दूसरे का आमना-सामना करते हैं कि पता नहीं कब कौन गोली चला दे।

उपन्यासों में कश्मीरी जीवन के उस पक्ष का भी चित्रण किया गया है जहाँ सेना द्वारा संदेह के आधार पर गिरफ्तार किया जानेवाला व्यक्ति दहशतगर्द हो यह आवश्यक नहीं। अत: केवल संदेह के आधार पर किसी निर्दोष की गिरफ्तारी के परिणामस्वरूप लोगों के मन में सेना एवं पुलिस के प्रति भय उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। 'नौशीन' उपन्यास का इम्तियाज़ आतंकी होने के संदेह में पकड़ा जाता है। जेल में इम्तियाज़ को अपने जैसे कई और लड़के मिलते हैं जो निर्दोष थे और अपनी बेगुनाही साबित होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। ऐसे लोग जहाँ निरपराध होते हुए भी अपराधियों के बीच और अपराधी की तरह रहने को मजबूर हैं, वहीं उनका परिवार वर्षों जेल-अदालत के चक्कर काटने को विवश है। यह स्थिति उन्हें आर्थिक और मानसिक दोनों स्तर पर प्रभावित करती है। जेल से लौटने के बाद इम्तियाज़ अपनी बहन हसीना को बताता है, "आपा, ये उस क़सूर की सज़ा थी जो मैंने नहीं किया था। वहाँ मिलिटेन्ट्स भी थे, पर ज़्यादा बेक़सूर बच्चे थे।"[59] उन युवकों को जो केवल संदेह के आधार पर जेल जाते हैं उन्हें सेना, पुलिस एवं भारत सरकार के विरुद्ध भड़काना दहशतगर्दों के लिए और अधिक आसान हो जाता है। साथ ही, यदि किसी परिवार का कोई सदस्य पूछताछ की कड़ी प्रक्रिया से गुजरता है तो उस परिवार के आक्रोश का फ़ायदा भी दहशतगर्द उन्हें सेना के विरुद्ध कर उठाते हैं। इस स्थिति को 'कथा सतीसर' उपन्यास में चित्रित उस प्रसंग के माध्यम से समझा जा सकता है जहाँ फैय्याज़ को इस बात का एहसास है की हिंसा की जिस राह पर वह चल पड़ा है वह गलत है। बावजूद इसके वह समर्पण नहीं करना चाहता। डाक्टर कात्या जब फैय्याज़ को समझाती है कि वह आत्मसमर्पण कर दे क्योंकि ऐसा करने पर उसे अच्छी नौकरी मिल सकती है, वह हर पल के मौत के भय से वह बच सकता है और अपनी एक नई जिंदगी शुरू कर सकता है तब फैय्याज़ उससे कहता है, "हथियार डालूँगा मैं? उन दरिंदों के सामने जिन्होंने मेरे भाई की इंटेरोगेशन सेल में चमड़ी उतार

दी? मेरे बेकसूर बाप को बेरहमी से पीटा? उसका क्या कुसूर था?"[60] फैय्याज़ के पिता और भाई के साथ जो कुछ भी हुआ था उसे लेकर उसके मन में भारतीय फौज के प्रति नफ़रत भर गई थी। फैय्याज़ के लिए उसके सबसे बड़े शत्रु वे सुरक्षाबल हैं, जिनके द्वारा अपने पिता और भाई के साथ की गई सख्ती को वह कभी भूल नहीं पाता। वह उनसे बदला लेना चाहता है जो अकेले संभव नहीं है। अत: वह हिंसक गतिविधियों में शामिल हो जाता है। दहशतगर्द फैय्याज़ जैसे युवाओं की मन:स्थिति को समझते हुए उन्हें बदला लेने हेतु उकसाते हैं, उन्हें यकीन दिलाते हैं कि हिंसा ही न्याय प्राप्त करने का एकमात्र माध्यम है और फैय्याज़ जैसे युवक उनकी बातों में आकर अपना भविष्य बर्बाद कर देते हैं।

'सूखते चिनार' उपन्यास में सेना और कश्मीरियों के संबंधों का चित्रण बहुत ही सूक्ष्मता से किया गया है। इस उपन्यास में कश्मीरी मुसलमानों के मन में बनी सेना की उस छवि को दिखाया गया है, जहाँ वे यह मानते हैं कि यदि सेना द्वारा किसी को पूछताछ के लिए बुलाया जा रहा है तो इसका मतलब है वहाँ उसके साथ मारपीट की जाएगी। बहुत हद तक यह भी संभव है कि वह व्यक्ति कभी लौटकर ही न आए, न ही उसके जीवित या मृत होने की कोई सूचना ही मिले। दूसरें शब्दों में कहें तो, उनके मन में सुरक्षाबालों के साथ संवाद की कोई कल्पना ही नहीं है, है तो केवल भय। यह भय भी निराधार नहीं है बल्कि उसका कारण पूछताछ के दौरान होनेवाली सख्ती है। जिसका असर उन कश्मीरी युवाओं के मन पर बहुत ही गहरा पड़ता है जो बेकसूर होते हैं। संवाद की इस कमी और अविश्वास ने कश्मीरी नागरिकों और सेना के बीच की दूरी को और अधिक बढ़ाया है। मेज़र सन्दीप बशीर अहमद नाम के एक युवक की तलाश में थे क्योंकि उसकी मित्रता एक आतंकी के परिवार के किसी सदस्य से थी। मेज़र सन्दीप चाहते हैं कि बशीर अहमद आर्मी द्वारा युवाओं के लिए आयोजित 'वर्कशॉप' से जुड़े। इसी दौरान वह उससे कुछ पूछताछ भी कर सकें, क्योंकि उनका मानना है कि ऐसे युवकों से पहले बातचीत कर उन्हें समझाना चाहिए, उन्हें सुधरने का मौका देना चाहिए। बशीर अहमद मेज़र सन्दीप द्वारा बार-बार बुलाए

जाने पर भी इसलिए नहीं आता क्योंकि उसे लगता है कि सेना हिन्दू हैं और उसे मिलकर मारेगी। बशीर अहमद का सेना के प्रति यह दृष्टिकोण इस यथार्थ को उजागर करता है कि जो सेना कश्मीरियों की सुरक्षा हेतु वहाँ नियुक्त है, उसके प्रति आम लोगों के मन में कितना अविश्वास और भय है। बशीर अहमद जैसे युवकों के लिए सेना हिन्दू है, जो उस जैसे मुस्लिम युवकों के साथ दुर्व्यवहार करती है। यह केवल एक घटना या किसी एक व्यक्ति की मानसिकता नहीं बल्कि एक बड़ा प्रश्न है। क्या ऐसा ही संबंध होना चाहिए सेना और कश्मीरियों के बीच? उन्हें एक-दूसरे के नहीं बल्कि हिंसा और आतंकवाद के खिलाफ होना चाहिए। फिर यह संदेह की परिस्थिति क्यों बन गई? यह असंभव नहीं कि इस दूरी को जानबूझकर और अधिक बढ़ाया गया हो ताकि दहशतगर्दों का काम आसान हो सके। आम लोगों के मन में सेना के प्रति यह भाव देख मेज़र सन्दीप को लगता है कि जिस झंडे की रक्षा एवं सम्मान के लिए वह फौज में आए हैं उसका अर्थ कश्मीर में आकर बदल गया है। उन्हें कश्मीर में किसी विदेशी शत्रु से नहीं बल्कि अपने ही देश के लोगों से लड़ना है। यह विडंबना ही है कि जिन लोगों के लिए उन्हें वहाँ भेजा गया है वे ही उसने डरते हैं, उन्हें अपना शत्रु समझते हैं। मेज़र सन्दीप अपने भाई सिद्धार्थ को पत्र में लिखते हैं, "कितना दुखद और दुर्भाग्यपूर्ण है कि अब हम सैनिक युद्ध के लिए नहीं, शत्रु के लिए नहीं, वरन देश की आन्तरिक सुरक्षा के लिए शहीद हो रहे हैं।"[61]

उपन्यास में दहशतगर्द बने परिवार के साथ सेना एवं पुलिस के संबंधों-संघर्षों का भी चित्रण किया गया है। जब किसी परिवार का कोई सदस्य आतंकी बन जाता है तब सेना उस घर पर नज़र रखती है और उसके घर आने की सूचना मिलते ही उसे पकड़ने अथवा मारने के लिए 'आपरेशन' की तैयारी करती है। इस पूरी प्रक्रिया का आतंकी बने व्यक्ति के परिवार पर क्या असर पड़ता है, उसे किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, सेना और पुलिस उस परिवार के साथ कैसा व्यवहार करती है, यह आतंकी ज़मील के परिवार के माध्यम से समझा जा सकता है। मेज़र सन्दीप को खबर मिलती है कि उनके इलाके का ज़मील नाम का युवक आतंकी बन

गया है, जो सिर्फ 22 साल का है। ज़मील के परिवार में उसके अम्मी-अब्बू और दो छोटे भाई-बहन हैं। ज़मील की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी, पूरे परिवार की आजीविका का एकमात्र साधन दो घोडें एवं थोड़ी-सी ज़मीन थी। ज़मील के आतंकी बनने की सूचना मिलते ही मेज़र सन्दीप की 'टीम' एवं पुलिस जब-तब ज़मील के घर जाती और बार-बार एक ही सवाल करती, "अपने फौलादी हाथों से झन्नाटेदार थप्पड़ का स्वाद चखाते और पूछते, "वनछे कैटि छुई ज़मील? (बता तेरा ज़मील कहाँ है)" उसका छोटा भाई थप्पड़ खा बिलबिलाता, ज़मीन पर गिर पड़ता।"[62] क्योंकि उनके पास इस सवाल का कोई जवाब नहीं है। ज़मील की अम्मी को सेना के घर आने के बाद पता चलता है कि उसका बेटा दहशतगर्द बन गया है। वह चाहकर भी इस बात पर विश्वास नहीं कर पाती की उसका बेटा हथियार भी उठा सकता है। अत: यह प्रक्रिया उनके साथ बार-बार दुहराई जाती। मेज़र सन्दीप को यह एहसास था कि ज़मील के परिवार पर ज्यादा ही दबाव डाला जा रहा है लेकिन वह कुछ भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि पूछताछ की यही प्रक्रिया थी। इस त्रासदी और यातना से ज़मील का परिवार तभी मुक्त हो सकता था जब ज़मील पकड़ा जाए। मेज़र सन्दीप ज़मील की अम्मी को समझाते हैं की वह अपने बाकि दोनों बच्चों को तभी बचा सकती है जब वह ज़मील को पकड़वाने में सेना की मदद करे लेकिन ज़मील की अम्मी के लिए निर्णय आसान नहीं था। दोनों ही ओर उसके अपने ही बच्चे थे, लेकिन मेज़र सन्दीप द्वारा बार-बार समझाने पर कि ज़मील कभी-न-कभी मारा ही जाएगा वह उसे चाहकर भी बचा नहीं सकती, पर वह अपने बाकी के दो बच्चों को बचा सकती है। अत: विवश होकर एक दिन ज़मील की अम्मी उन्हें उसके आने की सूचना दे देती है। यह सूचना बेशक आर्मी के लिए जीत का सन्देश हो लेकिन यह मौत से भी बदतर जीवन जीनेवालों के लिए जिंदा रहने का एक प्रयास मात्र था। यह फैसला लेने के दौरान ज़मील की अम्मी किस मानसिक अंतर्द्वंद और पीड़ा से गुजरी होगी यह अंदाज़ा लगाना भी मुश्किल है। इस फैसले को सुनकर मेज़र सन्दीप को ऐसा लगता है जैसे वह "इंसानियत के सबसे निचले पायदान पर खड़ा था और ज़मील की माँ बेबसी और

यातना की पराकाष्ठा पर खड़ी अपने बाक़ी दोनों बच्चों को बचा पाने की नसतोड़ मुहिम में अपने ही हाथों अपनी ममता का गला घोंट रही थी।"[63]

दरअसल यह वह प्रकिया है जो कश्मीर में सेना द्वारा दहशतगर्दों को पकड़ने के लिए की जाती रही है। इस प्रक्रिया में कभी कोई सैनिक मारा जाता है तो कभी कोई दहशतगर्द और मारे गए व्यक्ति का परिवार एक लंबी मानसिक यातना को झेलता है। कहने को तो केवल एक जीवन ख़त्म होता है लेकिन वास्तव उसके साथ ही एक पूरा परिवार बिखर जाता है। वे लोग जो उस मृतक पर आश्रित हैं निराधार हो जाते हैं। ऐसे में यदि मरनेवाला निर्दोष हो या केवल अपनी 'ड्यूटी' निभा रहा हो तो इस यातना को सहना और अधिक पीड़ादायक बन जाता है।

सेना अथवा पुलिस द्वारा पूछताछ के दौरान की जानेवाली सख्ती का चित्रण केवल उपन्यासों में नहीं है बल्कि इतिहास की किताबों और मानवाधिकारों की रिपोर्ट में भी है। हालाँकि कश्मीरी मुसलमानों के साथ की गई सख्ती और दुर्व्यवहार की घटनाएँ सेना पर केवल आरोप है या जानबूझकर नुकसान पहुंचाने की उद्देश्य से की गई हैं यह विवाद का मुद्दा है। इस सन्दर्भ में कई सारे तर्क हैं, सभी के अपने-अपने पक्ष हैं और जैसा कि कश्मीर के संदर्भ में कहा जा सकता है यहाँ सबका अपना-अपना सच है और जो कश्मीर का सच है कहीं दबा है। वहीं स्थिति यहाँ भी है। फिर भी 'एशिया वॉच और फिजिशियंस फॉर ह्यूमन राइट्स' द्वारा जारी की गई रिपोर्ट में सुरक्षाबालों द्वारा की जानेवाली सख्ती और हिंसा का भी उल्लेख किया गया है, "Indian security forces, which include the army and two paramilitary forces, the Central Reserve Police Force (CRPF) and the Border Security Force (BSF) have assaulted civilians during search operations, tortured and summarily executed detainees in custody and murdered civilians in reprisal attacks."[64]

वहीं, मन्नान बुख़ारी अपनी किताब 'कश्मीर स्केयर्स ऑफ़ पैलेट गंस' में लिखती हैं कि 'कई बार

सुरक्षाबलों द्वारा स्थिति पर काबू पाने के लिए 'पैलेट गंस' का उपयोग 'गैर घातक' विकल्प के रूप में किया जाता है लेकिन यह कई बार बहुत घातक साबित हुआ है। वे लोग जो दूध लेने जा रहे हो, अपने घर जा रहे हो या केवल अपने पड़ोसियों से बात कर रहे हों वे भी इसका शिकार हो जाते हैं। इन बंदूकों द्वारा चलाई जानेवाली गोली कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटकर पेट, आँख, पैर, पीठ अथवा सिर में भी प्रवेश कर गंभीर नुकसान पहुँचाती है।' इस किताब में 'पैलेट गंस' से घायलों की संख्या को भी आर.टी.आई रिपोर्ट के माध्यम से दिया गया है- "S.M.H.S Hospital Srinagar - Kashmir

According to the information which came to be issued by the Public Information Officer, SMHS Hospital, Srinagar, under NO. RTI/SMHS/8055- 57, dated 08-01-2014, the Prof. & Head, Department of Ophthalmology, Government Medical College, Srinagar reveals that:

"Total number of patients admitted in our department with pellet gun injuries from 2010 to Oct. 2013 are 36 (18 in 2010, 5 in 2011, 6 in 2012 and 7 in 2013). Out of these 27 were open globe injuries and 8 closed globe injuries"[65]

अर्थात् भारतीय सुरक्षाबलों द्वारा 'पैलेट गन' के उपयोग से आमजन को पहुँची क्षति और उनके द्वारा हिरासत में लिए गए लोगों के साथ मारपीट अथवा उनका लापता हो जाना, तलाशी के दौरान गैर-कानूनी कार्यवाही करने जैसी घटनाओं के संकेत भी मिले हैं। कई बार लगाए गए इन आरोपों का कोई सबूत नहीं होता और यह कहा जाता है कि यह आरोप सुरक्षाबलों की छवि को खराब करने के लिए लगाए जाते हैं, लेकिन इस सच को भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए कि जिस तरह से यह कार्यवाही होती है उसमें सबूत या गवाह मिलना आसान भी नहीं होता। सच

चाहे जो हो लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि सुरक्षाबलों द्वारा की जानेवाली कार्यवाहियों ने आमजन को प्रभावित अथवा आहत किया है।

उपन्यासों में सेना और कश्मीरी आमजन के संबंधों का केवल वह पक्ष ही नहीं दिखाया गया है जहाँ सेना उनके साथ केवल सख्ती करती हैं बल्कि उन घटनाओं का भी चित्रण किया गया है जहाँ सेना उनकी मदद भी करती है। जैसा कि 'कथा सतीसर' उपन्यास में चित्रित है कि किस प्रकार एक सैनिक 'क्रास फायरिंग' में घायल युवक इम्तियाज़ को अस्पताल में रक्तदान करता है क्योंकि उसका 'ब्लड ग्रुप' अस्पताल में उपलब्ध नहीं था।

कश्मीर में दहशतगर्दो के लिए सुरक्षाबल उनके शत्रु हैं और सुरक्षाबलों की कश्मीर में नियुक्ति आतंकवाद को रोकने के लिए हुई है। इन दोनों के बीच निरंतर होते घोषित-अघोषित युद्ध में सबसे अधिक प्रभावित वहाँ का आमजन ही हुआ है। वह आमजन जो न कश्मीर में हिंसा चाहता है, न अशांति चाहता है, वह तो बस "अमन शान्ति...शान्ति। सिर्फ शान्ति।...खूब सारे टूरिस्ट आएँ।"[66] चाहता है लेकिन उसके हिस्से बिल्कुल इसके विपरीत आया है। आम कश्मीरियों की इस सामान्य मांग को किस प्रकार नज़रन्दाज किया गया है और हिंसा की राजनीति में किस प्रकार उनका मोहरे के रूप में इस्तेमाल किया गया है इन सबका चित्रण उपन्यासों में मिलता है। साथ ही, हिंसा से प्रभावित कश्मीरी आमजन के जीवन के लगभग हर पक्ष को बड़ी ही संवेदनशीलता और उसके यथार्थ रूप में सामने लाया गया है।

iv. विस्थापन:

"विस्थापन का दर्द महज एक सांस्कृतिक, सामाजिक विरासत से कट जाने का दर्द नहीं है बल्कि अपनी खुली जड़ें लिए भटकने और कहीं जम न पाने की भीषण विवशता है"[67] कश्मीरियों का विस्थापन किसी प्राकृतिक आपदा के कारण नहीं बल्कि मानवनिर्मित परिस्थितियों के कारण हुआ है। विस्थापन की यह घटना वह आघात है जिसकी पीड़ा कभी ख़त्म नहीं हो सकती है।

विस्थापन केवल एक जगह से दूसरी जगह पुन: बसना नहीं होता बल्कि अपनी पहचान को भी नए स्थान के अनुरूप बदलना होता है।

अपनी इच्छा या किसी निजी मज़बूरी में घर छोड़ने और किसी दबाव में आकर घर छूटने में अंतर होता है। घर छोड़ने में जहाँ इच्छा अथवा महत्त्वाकांक्षा शामिल होती है वहीं जबरन घर छूटने में पीड़ा एवं अपमान का भाव समाहित होता है। मोतीलाल साकी कहते हैं, "घर खोना, जीते जी चिता में प्रवेश करना है। घर खोना, जीते जी कब्र में लेटना है। घर की कद्र वही जानता है जिसमें घर खोया है।"[68] क्योंकि घर केवल इंट-सीमेंट का ढाँचा नहीं होता, संपत्ति नहीं होती बल्कि स्मृतियों का पिंड भी होता है। जहाँ कई पीढ़ियों की यादें होती हैं, भावनात्मक लगाव होता है, अधिकार होता है। इस अधिकार का छीन जाना केवल संपत्ति से वंचित होना नहीं होता बल्कि आत्मसम्मान पर भी प्रहार होता है। कश्मीरी पंडितों पर यह प्रहार अपने ही देश में हुआ है। जहाँ जानबूझ कर साजिश के तहत भय का ऐसा माहौल बनाया जाने लगा था जिसमें कश्मीरी पंडित अपना घर छोड़ने के लिए विवश हो जाए। मनीषा कुलश्रेष्ठ के उपन्यास 'शिगाफ़' की अमिता विस्थापन का कारण बताते हुए अपने 'ब्लॉग' में लिखती है,"मैं आज निर्वासित हूँ...क्योंकि तुमने चुना था निहत्थों को मारना।/ मैं आज निर्वासित हूँ...मैंने चुना सम्मान से जीना...हथियार न उठाना।/ मैं आज निर्वासित हूँ...क्योंकि पूरा संसार चुप रहा...महज कुछ लोग ही तो मर रहे थे।/ मैं आज निर्वासित हूँ...क्योंकि मेरा भारतीय होने में विश्वास था।"[69] यह पंक्तियाँ विस्थापन जैसी निर्मम प्रक्रिया के उस यथार्थ को उजागर करती हैं जहाँ विस्थापन कभी न भरने वाला घाव बन जाता है।

कश्मीरी पंडितों के लिए घर का क्या महत्व है इस संबंध में टी. एन. मदन लिखते हैं, "A Pandit'sattachment to his house is great. He born and brought up in it; and here he gets shelter, food and emotional security. It is again here that he receives and entertains his kith and kin; performs various rituals and

ceremonies; keeps his belongings; and when the end comes, it is here he wants to die. To a Pandit his gara is symbolic of the purpose of his existence and strivings. All the major events in his life and in the lives of his coresident relatives (births, marriages, partitions and deaths.) take place in his home."[70]

घर के प्रति कश्मीरी पंडितों के इस भावनात्मक लगाव का चित्रण कश्मीर केन्द्रित लगभग सभी उपन्यासों में मिलता है। 'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता विस्थापन के बाद अपने नए घर को कभी अपना नहीं मान पाती है। घर शब्द से जो भावनात्मक लगाव जुड़ा होता है वह उसे अपने नए घर से कभी नहीं हो पाता है। जैसा कि वह सोचती है, "दिल्ली का वह दो कमरे का घर। पिता की छड़ी से टँगा उनका अकेला दुख, माँ की तस्वीर, छोटे भाई के नाटकों की किताबें और छाऊ के मुखौटेवाला घर याद करने से 'घर' को याद करनेवाली बात नहीं आती। वह भी एक शरणार्थी शिविर ही लगता है। घर जो मुझे याद आ रहा था, बचपनवाला था...जो सच में एक घर था, जहाँ मेरे सुकून का एक चिथड़ा पीछे चेरी के पेड़ पर टँगा है।"[71] कश्मीर से विस्थापित होने के बाद भी अमिता की स्मृतियों में उसके बचपन वाला घर ही था। कैम्प अथवा किराये का मकान उसके लिए केवल सराय थे, जिनकी उपस्थिति उसे बार-बार अपने कश्मीर वाले घर की याद दिलाती है। घर छूटने की पीड़ा को सहना अमिता के लिए इतना कठिन हो जाता है कि विस्थापन के वर्षों बाद भी वह यही चाहती है कि उसकी याददाश्त चली जाए। वह सबकुछ भूल जाए क्योंकि ऐसा होने पर ही उसे अपनी स्मृतियों के बोझ और मातृभूमि में पर्यटक बन जाने की पीड़ा से मुक्ति मिल सकती है। जीवन सिनेमा नहीं होता जहाँ दृश्यों को बदला अथवा अनदेखा किया जा सके। जीवन वह यथार्थ है जहाँ व्यक्ति न चाहते हुए भी अपने अतीत को याद रखने के लिए अभिशप्त होता है। शायद यही कारण है कि अपने भरे-पूरे परिवार में रहती 'एक कोई था कहीं नहीं सा' उपन्यास की शबरी और विदेश में सभी सुख-सुविधाओं के बीच रहती 'कथा सतीसर' उपन्यास

की लल्ली जीवन के अंतिम क्षणों तक अपनी मातृभूमि को याद करती रहती हैं। वहाँ लौटने की आस उनके जीवन की अधूरी अंतिम इच्छा बनकर रह जाती है। लल्ली और शबरी विस्थापन के बाद अपने नए घर में सभी सुविधाओं के बीच रहते हुए भी आत्मनिर्वासन की पीड़ा से आजीवन मुक्त नहीं हो पाती हैं।

'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की शबरी कश्मीर में लड़कियों को पढ़ाती थी। कश्मीर में बढ़ती आतंकी घटनाओं की सुनकर भी शबरी को यह विश्वास था कि उसे कश्मीर छोड़कर नहीं जाना पड़ेगा, क्योंकि उसके अनुसार उसने ऐसा कोई कुसूर नहीं किया था जिसके लिए उसे निर्वासन जैसी क्रूर सजा मिले। शबरी यह मानती है कि उस घर में उसके गृह देवता के साथ-साथ उसके पूर्वजों का स्नेह और आशीर्वाद भी बसा है। इसीलिए निरंतर मिलनेवाली धमकियों और अपमान को सहते हुए भी वह इस उम्मीद को बनाए-बचाए थी कि एक दिन यह हिंसा ख़त्म हो जाएगी और सबकुछ सामान्य हो जाएगा। शबरी जब अपने पहचान के लोगों को कश्मीर से जाते देखती है तो सोचती है, "इस घर-आँगन से लगता है जन्म-जन्मान्तर का नाता है। यहीं जन्म लिया, यहीं से ब्याही गयी और जब लौटी भी तो यहीं। यहीं रहकर एक ही जीवन में न जाने कितने जीवन जिये! तो क्या अब अन्तिम पहर में, चला-चली की इस वेला में इसे छोड़ दूँ? नहीं किसी क़ीमत पर नहीं। हरगिज़ नहीं।"[72] लेकिन एक दिन ऐसा भी आता है कि शबरी अपना घर छोड़ने के लिए मजबूर हो जाती है। उस समय उसे ऐसा लगता है जैसे कश्मीर से वह नहीं उसकी मृत देह जा रही है, क्योंकि उसकी आत्मा तो उसी घर में रह जाती है जो उसके पुरखों का निवास-स्थान है। शबरी की यह अंतिम इच्छा थी कि उसकी अर्थी उसके घर से ही उठे, लेकिन उसकी यह छोटी-सी इच्छा कभी पूरी नहीं हो पाती है, क्योंकि शबरी को कश्मीर में रोकनेवाले हाथ असहाय थे और निकालने वाले क्रूर, हिंसक और निर्दयी।

शबरी की ही तरह 'कथा सतीसर' उपन्यास की लल्ली कश्मीर से दूर न्युजर्सी में सिर्फ इस आस के सहारे जीवित थी कि शायद मरने से पहले एक बार अपने प्रदेश जा सके, अपनी मातृभूमि में

अपनी आख़िरी सांस ले सके। वह इस यथार्थ से भी अवगत थी कि अपनी मिट्टी में मिलना अब उसके भाग्य में नहीं है। शबरी और उन जैसे तमाम विस्थापितों की तरह लल्ली भी मज़बूरी और उम्मीद के अंतर्द्वंद के बीच अपना घर छोड़ती है। लल्ली कश्मीर से विस्थापित होकर अपने बेटे के पास अमेरिका चली जाती है। बाहरी तौर पर देखने से उसके पास बहुत अच्छी जिंदगी थी, अच्छा घर था, अच्छा माहौल था लेकिन इन सबके बीच एक ऐसी कमी थी जो इन सुविधाओं के बावजूद हर वक्त उसके मन में टीस बनकर उठती रहती है। उसे मिलनेवाली सभी सुख-सुविधाएं उस एक कमी को पूरा करने में असमर्थ थी जिसे वह कश्मीर छोड़ने के बाद निरंतर महसूस करती है। इन सबका उसकी मानसिक स्थिति पर इतना बुरा प्रभाव पड़ता है कि उसे हर पल यह भ्रम होता है कि जैसे वह कश्मीर में है। लल्ली की इस स्थिति का चित्रण करते हुए चन्द्रकान्ता लिखती हैं, "हुआ यों कि एक ढलती साँझ कॉटेज की डेक पर आरामकुर्सी में धँसी लल्ली, दीठ के आगे दूर तक फैले ओक और डॉगवुड के वृक्षों में छूटे हुए घर के चीड़ और चिनार ढूँढ रही थी...तभी पेड़ों के झुरमुट के पीछे काले सुरमई मेमनों को आसमान में सिर उठाते देख लल्ली को मतिभ्रम-सा हो गया। उसने बाँह भर की दूरी पर बैठे बेटे को छूकर पूछा, "उधर उन पेड़ों के पीछे पहाड़ों की चोटियाँ-सी दिख रही है न बेटे? नवबंधन की तीन चोटियाँ।"[73] लल्ली का बेटा उसे यह कहकर वर्तमान में लाता है कि अब वह कश्मीर से अब कोसो दूर है लेकिन लल्ली को विश्वास नहीं होता है। वह तीन पहाड़ियां जो उसके बेटे की नज़रों में उसका भ्रम है, दरअसल वह लल्ली की पूंजी है जिसे वह खो चुकी है। नई पीढ़ी जो कश्मीर से बाहर बस गई थी और सुख-सुविधाओं से भरा जीवन अर्जित कर चुकी थी, उसके लिए लल्ली की इस मन:स्थिति को समझना संभव नहीं है क्योंकि उनके द्वारा एकत्रित सभी सुविधाएं लल्ली की नज़रों में केवल 'पाना' है लेकिन जो उन्होंने खोया है उसका क्या? क्या उसकी भरपाई कभी हो सकती है?

शबरी, लल्ली या उन जैसे अन्य विस्थापित जो दूसरे शहरों अथवा देश में बस गए वे कैम्पों की

गंदगी, उपेक्षा और अपमान से भले बच गए हों लेकिन कश्मीर छोड़ने के दंश से वे भी मुक्त नहीं हो पाते। इन विस्थापितों के लिए समय केवल बीता नहीं है बल्कि उनसे बहुत कुछ छीनकर भी ले गया है- वह सब जिसे बटोरने और सहेजने का उन्हें मौका भी नहीं मिल पाया। न सहेज पाने की यह पीड़ा इतनी गहरी है कि 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा की माँ लगभग विक्षिप्त अवस्था में पहुँच जाती है। सुधा का परिवार यथासंभव उसकी माँ के सामने कश्मीर का जिक्र नहीं करता फिर भी वह बार-बार अपने उस घर को याद करती है और सोचती है कि, "मैंने इस प्यारे घर को बनाने के बाद सोचा था कि उसकी ड्योढ़ी से मेरी अर्थी जाएगी...और तभी चिता पर लेटूँगी...घर मुझे भव्य विदा कहेगा। मगर हुआ उल्टा...मेरे मन के इस घर से वह घर निकला...अर्थी में सोया...और असमय भस्म हुआ...वह मात्र घर ही नहीं...मेरी आत्मा का निवास था...मेरे देवता का निवास था...उसमें मेरा नन्दबब रहता था।"[74] कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में विस्थापित पंडितों की ऐसी कई अनकही-अनसुनी और मामूली इच्छाओं का मार्मिक चित्रण किया गया है जो हमेशा के लिए अधूरी रह जाती हैं।

अपना घर रहते हुए भी किसी शरणार्थी शिविर में रहना कितने अपमान की बात हो सकती है यह 'पाषाण युग' उपन्यास में देखा जा सकता है। इस उपन्यास की पात्र अंजलि के सभी रिश्तेदार और पहचान के कश्मीरी पंडित धीरे-धीरे कश्मीर छोड़कर जाने लगे थे। अंजलि का संबंधी विनोद जब उसे शरणार्थी कैंप का 'फॉर्म' यह कहते हुए देता है कि भविष्य में इसकी जरूरत पड़ेगी। उस 'फार्म' को देखकर अंजलि को ऐसा महसूस होता है जैसे किसी ने उसके आत्मसम्मान पर गहरा आघात किया हो। अंजलि का परिवार कश्मीर छोड़कर नहीं जाना चाहता था लेकिन जब रवि, अंजलि के चाचा का बेटा जो फौज में था, की हत्या कर दी जाती है तब वे बड़ी मुश्किल से अपने बेटे राजू को सज्जाद साहब की सहायता द्वारा कश्मीर से बाहर भेज देते हैं। राजू कुछ दिन तक दिल्ली में अपने एक रिश्तेदार के यहाँ रहता है लेकिन आखिर कब तक वह किसी के घर रह सकता था। अत: उनके घर से निकलकर वह जम्मू के किसी कैम्प में चला

जाता है। अंजलि और उसका परिवार पंडित विरोधी माहौल एवं हिंसक गतिविधियों के बीच भी कश्मीर में केवल इसलिए रुका था क्योंकि उन्हें कैम्प का जीवन नहीं जीना था, शरणार्थी नहीं बनना था। इतने संघर्षों के बावजूद भी राजू का शरणार्थी कैंप में जाना उनके लिए किसी आघात से कम नहीं था।

कश्मीरी मुसलमान पंडितों के कश्मीर छोड़कर जाने में तो उनकी मदद तो कर सकते थे, जैसा कि 'पाषाण युग' उपन्यास के सज्जाद ने राजू की मदद की थी, लेकिन वे उन्हें वह दहशतगर्दों से नहीं बचा सकते थे। दहशतगर्दों के सामने कश्मीरी मुसलमान भी असहाय और निहत्थे थे। उपन्यासों में क़बायली हमले के दौरान उन स्थितियों का भी चित्रण मिलता है जहाँ मुसलमानों ने हिन्दू स्त्रियों को अपने घर की स्त्री बताकर क़बायली हमलावरों से उनकी रक्षा की थी, लेकिन 90 के दशक में यह करना उनके लिए संभव नहीं था। क़बायली हमलावर बाहरी थे वे स्थानीय नागरिकों को नहीं पहचानते थे लेकिन जैसा कि उपन्यासों में चित्रित है इस बार कुछ कश्मीरी मुसलमान भी पंडितों को कश्मीर से निकालने की मुहीम में शामिल हो गए थे। 'नौशीन' उपन्यास के हरनाम की आख़िरी उम्मीद भी तब टूट हो जाती है जब उसके पड़ोसी रहे "महीदीन चाचा ने रात को दार जी से आकर कहा था- मैं किस-किस से लड़ूँगा गोबरधन! बस अपनी इज़्ज़त सहेजकर चले जाओ। मैं अकेला क्या कर सकता हूँ! हमने इसी ट्रक में कुछ बिस्तर-भांडे रखे, कुछ राशन डाला और अपनी इज्ज़त लेकर निकल आये।...जब भी बहार आती है, बीजी कहती है- उस दरख्त पर इतना अखरोट फला होगा, इतने गिलास लगे होंगे, इतने बादाम उतरे होंगे। सेबों के भार से तो दरख़्त दोहरे हो रहे होंगे!"[75] हरनाम का परिवार कुछ ज़रूरी सामान के साथ न केवल अपने घर की चाभियों को बल्कि अपने खेत-बागानों को भी महीदीन को सौंपकर कश्मीर से बाहर चला जाता है। हरनाम की बीजी अपने घर-खेतों-बागान को भूल ही नहीं पाती है। बहार का मौसम जो खुशहाली का प्रतीक है उसके लिए हर बार दुःख का कारण बन जाता है क्योंकि अपने बागानों, पेड़ों और फलों को अब वह देख भी नहीं सकती थी। वह बागान जो कभी उसके अधिकार क्षेत्र

में थे, अब उनका मालिक कोई और है। इस स्थिति को स्वीकारने के अलावा उस परिवार के पास कोई अन्य विकल्प भी नहीं है।

कश्मीर से निकलकर दुबारा बसने का संघर्ष 'नौशीन' उपन्यास के मक्खनलाल जैसे पात्रों के लिए आसान नहीं था, क्योंकि कैम्प में केवल सिर छिपाने-भर की जगह ही मिल सकती थी परन्तु वह उनका घर कभी नहीं बन सकता था। वहीं विस्थापन के बाद मिला मुआवज़ा भी सभी जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता था। अत: बची हुई ज़रूरतों को पूरा करने की चुनौती मक्खनलाल के सामने थी। मक्खनलाल का परिवार जम्मू के एक कैंप में रहता है और वह स्वयं मुंबई में अपने किसी रिश्तेदार के घर में। जिसके दो कारण हैं- पहला, वह हब्बा खातून पर लिखी गई अपनी पांडुलिपि किसी 'डायरेक्टर' को बेचना चाहता है ताकि उसे कुछ पैसे मिले सकें और साथ ही कोई छोटा-मोटा काम भी मिल जाए। दूसरा, कैम्प में उसके परिवार को केवल एक ही कमरा मिला था जिसमें उसके माता-पिता, पत्नी और बच्चे ही बड़ी मुश्किल से रह पाते हैं। अत: ऐसी स्थिति में मक्खनलाल अपने रिश्तेदार के यहाँ अपमानित और उपेक्षित होने के बावजूद भी रहने को मजबूर हो जाता है।

उपन्यासों में यह चित्रित है कि किस प्रकार विस्थापितों की घर लौटने की आख़िरी उम्मीद उनकी कश्मीर वापसी पर ही ख़त्म हो जाती है। 'कथा सतीसर' उपन्यास की पात्र दुलारी वर्षों से इस उम्मीद को बचाए रखती है कि भले कुछ दिनों के लिए ही सही वह लौटकर अपने घर अवश्य जाएगी, लेकिन दुबारा कश्मीर जाने पर अपने घर की स्थिति और वहाँ बैठे आतंकियों को देखकर उसकी यह आख़िरी उम्मीद भी टूट जाती है। दुलारी सोचती है, "उम्रों के घरोंदे, पुरखों की यादगारों से अटी धरती, हवा और मौसम की महक, सब कुछ बदल गया था। शैंडलियरों-कारपेटों से सजा घर, किसी अदेखे भूचाल से तहस-नहस हो गया हो जैसे। नक्काशीदार अखरोटी लकड़ी के पलंगों पर रजाइया-कंबल, बंडल बने बेतरतीब शक्ल में पड़े थे। अजीब-सी उबकाई लाती गन्ध कमरे में ठहर गई थी। बिस्तर पर सुखकर गाढ़े हो चुके खून और पेशाब के धब्बे देख,

दुलारी का चेहरा सफेद पड़ गया। कहीं यहाँ भी भोगी गई लड़कियों की लाशें न पड़ी हों"[76] घर की यह दुर्दशा देख दुलारी विश्वास ही नहीं कर पाती है कि यह वही घर है जिसे उसने बड़े जतन से सहेजकर और सजाकर रखा था, जो उसके गृहदेवता का निवास-स्थल था। घर की हालत और दहशतगर्दों की वहाँ उपस्थिति देख दुलारी समझ जाती है कि अब घर वापसी संभव नहीं है। कहने को तो दुलारी उस घर की मालिक थी लेकिन वह उसकी निवासी अब कभी नहीं बन सकती थी। यह स्थिति अकेले दुलारी की नहीं है बल्कि 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा भी जब कश्मीर जाती है तो अपने घर को देख उसकी वे सभी स्मृतियाँ सजीव हो उठती हैं जो वर्षों से उसके भीतर दबी थी। सुधा गुरप्रीत से कहती है, "हम घर के बहुत नजदीक पहुँच गए हैं गुरप्रीत!... गुरप्रीत यहाँ से मेरा दूल्हा आया था। और यहाँ से मैं उसके साथ निकली थी...और यहीं से मैं सदा के लिए बच्चों को लेकर चली गयी। जिंदगी को बचाने के वास्ते।...यह एक बहुत लम्बी दर्दनाक दास्तान है।"[77] दुलारी और सुधा जैसे कश्मीरियों ने दोहरा विस्थापन झेला था। पहला, जब उन्होंने कश्मीर छोड़ा था और दूसरा, दुबारा लौटने पर जब वे अपने घर और अपनी मातृभूमि की दयनीय होती स्थिति को देखते हैं। इस दूसरे विस्थापन ने उनकी बची हुई उम्मीदों को ख़त्म कर दिया। उपन्यासों में चित्रित विस्थापितों की स्थिति द्वारा उनकी बेबसी का केवल अंदाजा ही लगाया जा सकता है जिसमें उन्होंने अपना घर छोड़ा था। जहाँ वे अपने घर, अपने प्रदेश और अपने देश में इतने असहाय हो गए थे कि उन्हें यह महसूस होने लगता है कि उन्हें बचानेवाला, उन्हें उनकी भूमि में रहने के लिए सुरक्षात्मक आश्वासन देनेवाला कोई नहीं है। चन्द्रकान्ता अपने उपन्यास 'कथा सतीसर' में उन प्रश्नों को भी उठाती हैं, जो कश्मीरी पंडितों के विस्थापन को अलग तरीके से पेश कर यह प्रचार करते हैं कि कश्मीरी पंडितों ने किसी मजबूरी में नहीं बल्कि लालच में अपना घर छोड़ा था। इसी उपन्यास का एक पात्र भारद्वाज, जो मिडिया में कार्यरत है, कहता है, "पंडित बसे बसाएं घर को छोड़कर राजधानी चले आए क्योंकि उन्हें प्लाट और फ्लैट मिलने की उम्मीद थी।"[78] लेकिन चन्द्रकान्ता इस धारणा का विरोध करती हैं क्योंकि

कोई भी व्यक्ति, जो सम्मान का जीवन चाहता हो, कभी भी स्वेच्छा से कैम्प के जीवन का चुनाव नहीं कर सकता है। कश्मीरी पंडित अपनी संपत्ति 'फ्लैट और प्लाट' के लालच में नहीं छोड़ सकते थे, क्योंकि उन्हें रहने के लिए जो कैम्प और बाद में परिवार की संख्यानुसार कमरे मिले हैं उनपर उनका मालिकना हक़ तक नहीं है। उन कमरों को न ही वे बेच सकते हैं और न ही उसे किराये पर दे सकते हैं। उन कमरों पर उनका अधिकार केवल उनमें रहने भर तक का ही है। अत: इस स्थिति से यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि उनके कश्मीर छोड़ने का कारण भय था, जो अनायास नहीं था। दहशतगर्दों द्वारा उनके समुदाय के प्रसिद्ध व्यक्तियों जैसे पंडित टिकालाल टपलू, जो पेशे से वकील थे, और 'जस्टिस' गंजू की हत्या की गई थी। अत: इस स्थिति में उनका कश्मीर में रहना कैसे संभव हो सकता था? कश्मीरियों ने इस उम्मीद में अपना घर छोड़ा था कि वह कुछ समय बाद दुबारा अपने घर लौट आएंगें। जैसा कि रविंद्र जुगरान लिखते हैं, "जब हिंदू समाज घाटी से विस्थापित हुआ तो उसे यह उम्मीद थी कि सरकार इस आतंकवाद को दो-चार महीनों में समाप्त कर देगी और हम फिर से अपने-अपने घरों में लौट जायेंगे। इसलिए वे लोग अति आवश्यक वस्तुओं को ही साथ लाए थे।"[79] अत: विस्थापितों के पास जो आवश्यक वस्तुएं और पैसे थे वह भी धीरे-धीरे ख़त्म होने लगे। अब जीवन का वह यथार्थ उनके सामने खुलने लगा जिसकी उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। अपने घरों से निकलकर कैम्प तक का सफर उनके लिए जितना यातनापूर्ण था, उतना ही यातनापूर्ण उनके लिए कैम्प का जीवन भी रहा है।

उपन्यासों में विस्थापितों की उन त्रासद परिस्थितियों का भी चित्रण भी किया गया है जिसमें वे घर छोड़कर निकले थे, "बनिहाल के घुमावदार पहाड़ी रास्ते ट्रकों-बसों में उदास कारवाँ से अट गए थे। इन ट्रकों-बसों, मेटाडोरों में दहशत भरे पंडित, सहमें सिकुड़े बच्चों, बीवियों, जवान बेटियों और जल्दी में हाथ आए बक्सों, बुगचों समेत सिर झुकाए दुबके बैठे थे। उम्रों के घरौंदे, विरासतें, नाम और साथ चली हवाएँ, पीछे छूट रही थी।"[80]

कैम्पों में विस्थापितों की दयनीय स्थिति का अंदाज़ा इन तस्वीरों के माध्यम से भी लगाया जा सकता है-

From the 1990s Archival photos of various migrant camps for Kashmiri Pandits
Photographs Courtesy: Sanjeevni Sharda Kendra, Jammu

From the 1990s Archival photos of various migrant camps for Kashmiri Pandits
Photographs Courtesy: Sanjeevni Sharda Kendra, Jammu

अपने ही देश में विस्थापित होना और कैंपों में रहना, गर्मी एवं जिल्लत को झेलते हुए जीने के लिए संघर्ष करना एक देश का नागरिक होने के नाते विस्थापितों के आत्मसम्मान पर प्रहार है। यह देश के लिए ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटना है जिसके दाग कभी मिट नहीं सकते हैं। विस्थापितों के लिए कैम्प की ज़िन्दगी आसान नहीं रही है। ख़ासकर तब विस्थापितों के लिए बनाए गए अस्थाई कैम्प अथवा टेंट धीरे-धीरे उनका स्थाई पता बनने लगे। उनकी इस त्रासद स्थिति का अंदाजा राजा कृष्ण की इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है जहाँ वह लिखते हैं, "मुझसे मिलने के लिए/किसी को खटखटाना नहीं होगा दरवाजा? केवल फटेहाल सरकारी तम्बू का पर्दा सरकाना

होगा।"[81] यह पंक्तियां विस्थापन के दंश और मानव-जनित उन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण हैं जिसमें एक समुदाय बिना किसी गलती के किसी के निजी स्वार्थ, आपसी द्वेष और हिंसक विचारधारा का शिकार बन जाता है। कश्मीर से जान बचाकर निकलना ही जिनकी प्राथमिक चिंता थी वहाँ से निकलते ही उनके सामने कई नए प्रश्न खड़े हो गयें। जिनके पास पैसे थे उन्होंने किराए का मकान अथवा अपना घर ले लिया, जिनके बच्चे बाहर नौकरी करते थे वे उनके पास चले गए लेकिन जिनके पास न पैसे थे और न ही कहीं और जाने का ठिकाना उनके लिए कैम्प ही एकमात्र विकल्प था। केवल कुछ दिनों के लिए कैम्पों में गए कश्मीरियों के निर्वासन की अवधि इतनी लम्बी हो गई कि उनकी एक पीढ़ी ने कश्मीर लौटने की आस में कैम्प में ही अपना जीवन त्याग दिया। जैसा कि 'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता कहती है, "जलते टिन की छत और नदी के किनारे की जलती बालू की ज़मीन। बक्से से लगाकर बनाई गई आड़ जहाँ महीने भर में लू में भटकती और अपना 'हब्बाकदल' ढूँढ़ती दादी मर गई और अगले तीन महीनों में चुपचाप दुख झेलती हुई माँ भी मर गई।"[82] वहीं दूसरी पीढ़ी ने जन्म लेते ही कैम्प का जीवन देखती है। यह वह पीढ़ी थी जिसे न केवल उसके जन्म से ही विस्थापित होने की पहचान मिल गई बल्कि वह अपनी मातृभूमि में पैदा होने के अधिकार से भी वंचित कर दी गई। इस पीढ़ी ने अपने पुरखों की भूमि के किस्से केवल सुने थे क्योंकि देखने का अधिकार उनसे छीन गया था। कश्मीर छोड़कर विस्थापित कश्मीरी जब 'जगती कैम्प', 'पुरखु कैम्प', 'नागरोटा कैम्प' आदि में गए तो वहाँ उन्हें यातना-भरा जीवन ही मिला। जहाँ एक कमरे अथवा टेंट में कई परिवार एक साथ बिना सुविधाओं के रहने को मजबूर थे और छोटी-छोटी आवश्यकतों की पूर्ति के लिए न केवल दूसरों पर आश्रित थे बल्कि उपेक्षित भी थे। 'कथा सतीसर' उपन्यास का संसारचंद राशन की कतार में खड़ा स्वयं को हर दिन अपमानित महसूस करता है क्योंकि उसे सरकार की ओर से मिलनेवाला राशन भी भीख की तरह दिया जाता है। संसारचंद अपने साथ हो रहे इस दुर्व्यवहार की शिकायत करने की स्थिति में भी नहीं है क्योंकि आपत्ति या शिकायत करने पर उसे शरणार्थी होने का

एहसास दिला दिया जाता है। राशन की कतार में अधिक देर न खड़े हो पाने की स्थिति में संसारचंद जब राशनवाले से थोड़ा जल्दी करने के लिए कहता है, तो राशनवाला उससे कहता है, "मंगते, सो भी हाथी चढ़े। खड़े रहो, बारी आने पर तुम्हें मिलेगा।"[83] कैम्प में रहनेवाले संसारचंद जैसे विस्थापित धीरे-धीरे वहाँ के स्थायी निवासियों के लिए बोझ बनने लगते हैं। अपनी झेलम नदी को छोड़कर आनेवाले इन कश्मीरियों को न केवल राशन के लिए बल्कि पानी का इस्तेमाल किए जाने पर भी टोका जाने लगता है, जैसे वे इस देश के नागरिक ही नहीं है और इस देश के संसाधनों पर उनका कोई अधिकार नहीं है। 'शिगाफ़' उपन्यास के पात्र निरंजन रैना को पानी का उपयोग करने पर भी टोका जाता है। निरंजन रैना को एक स्थानीय दुकानदार अपमानित करते हुए कहता है कि उस जैसे विस्थापितों ने शहर का पूरा पानी ख़त्म कर दिया है। विस्थापितों के लिए इन अपमानजनक तानों को सुनना और सहना नियति बनती जा रही थी। उनके प्रति जो थोड़ी-बहुत सहानुभूति स्थानीय लोगों के मन में थी, वह भी अब उपेक्षा और अपमान में बदलने लगी। आरंभ में जहाँ सभी को यह लगा था कि जल्दी ही सरकार कश्मीर की बिगड़ती परिस्थितियों पर काबू पा लेगी और विस्थापित कश्मीरी वापस अपने घर लौट जाएंगे, वहीं बीतते वक्त ने उन्हें इस यथार्थ से अवगत करा दिया कि यह समस्या इतनी जल्दी ख़त्म नहीं होगी। अत: कुछ स्थानीय निवासियों के लिए विस्थापितों का दु:ख उनके द्वारा घेरे जानेवाली जगह और मिलनेवाली कुछ सुविधाओं के सामने छोटा पड़ने लगा। जिसके कारण कैम्प में रहनेवाली शुभावती को यह महसूस होने लगता है कि उसने कश्मीर छोड़कर आने का निर्णय लेकर बहुत बड़ी गलती कर दी है। कैम्प में हर दिन अपमानित होकर नर्क-सा जीवन से तो बेहतर था कि वह अपने घर यानी कश्मीर में ही मर जाती। उसके लिए मौत इस जीवन की यातना से बेहतर विकल्प है। शुभावती कहती है, "जो भाग्य में होगा, उधर ही होने दो।...राजरानियों सी मेरी बहू-बेटियों के केश, हथेली भर तेल के बिना नर-कुल हुए जा रहे हैं। सीवर लगी धोतियों में भीखमंगियाँ नजर आती हैं।"[84] अपना घर छोड़कर आए कश्मीरी अपने तमाम अधिकार तभी खो चुके थे जब वह कश्मीर की

सीमा से बाहर निकले थे। इन विस्थापितों को कैम्प में रहने-भर की जगह तो मिल गई थी लेकिन उनके लिए केवल यही काफी नहीं था बल्कि रोजगार, शिक्षा, डाक्टर, ईलाज आदि की समस्या भी उनके सामने थी। कैम्पों में जन्म लेनेवाले बच्चों के माता-पिता के पास अधिकांशत: उनका ईलाज करवाने की भी पैसे नहीं होते थे। अत: नवजात शिशु भी जन्म के साथ ही कैम्प की गंदगी और अभाव के बीच जीवित रहने का संघर्ष करते थे। वह माता-पिता जिन्होंने अपने बच्चों के बेहतर भविष्य के लिए कई सपने देखें होंगे उनकी आँखों के सामने अभाव के कारण उनके बच्चों की असमय मृत्यु, उन्हें 'स्कूल-कॉलेज' न भेज पाने की विवशता और उनके लिए कुछ भी न कर पाने की असहायता ने उन उम्मीदों से उनका मोहभंग कर दिया था जिसके सहारे वह कश्मीर से बाहर निकले थे।

शरणार्थी शिविर में रहनेवाले लोग अपने पेंशन और मुआवजे के लिए भी सरकारी कार्यालयों के चक्कर लगाते हैं। ठंडे प्रदेश से आए इन कश्मीरियों के लिए न मौसम अनुकूल था और न परिवेश। कैंपों में जगह कम और लोग अधिक होने के कारण साड़ी-कपड़े बांधकर बनाई गई आड़ में कई परिवार एक साथ रहते थे। कपड़े की यह मामूली आड़ ही उनकी एकमात्र निजता थी, लेकिन यह आड़ भी कब तक बनी रह सकती थी। धूप-बारिश और आँधी से यह कपड़े भी धीरे-धीरे फटने लगे। जगह-जगह से फटे टेंट उसमें रहनेवाओं को न आँधी-पानी से बचा सकते थे और न ही लोगों की नजरों से। जैसा कि ख़ालिद बशीर भी लिखते हैं, "the majority of them faced severe physical and psychological torments. They had moved in an environment that was both climatically and culturally not suited for them. From a life of ease to an existence as refugees in tents and cramped accommodations, their plight became pathetic. Large families had to adjust themselves in single rooms, affecting everyone especially the womenfolk who could not even dress up at ease."[85]

इन परिस्थितियों में रहते हुए विस्थापितों ने कई शारीरिक-मानसिक कठिनाइयाँ झेली। उन्हें दुःख केवल विस्थापन का नहीं बल्कि उस जीवन का भी था जो उन्हें मिला था। उन्हें केवल राशन की कतार में ही खड़ा नहीं होना पड़ता था बल्कि दैनिक क्रियाओं को पूरा करने के लिए भी उनके सामने एक लम्बी कतार थी। पुरुष वर्ग फिर भी खुले में अपनी दैनिक क्रियाएँ पूरी कर सकता था लेकिन स्त्रियों के पास तो यह विकल्प भी नहीं था। चाहे परिस्थिति जो भी हो उन्हें अपनी बारी का इंतज़ार करना ही पड़ता था। इन विस्थापितों के सिर पर टूटी छत थी, पैरों के नीचे कच्ची ज़मीन थी और सामने थी अनंत आकाश जैसी फैली चिंताएं।

'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की शबरी अपनी भतीजी दुर्गा के पास कैम्प में जाती है। वहाँ कैम्प की दयनीय स्थिति देख उसे महसूस होता है कि विस्थापित होने के बाद भी वे लोग बहुत बेहतर स्थिति में हैं जो किराये के या अपने नए घरों में हैं। कम से कम उनके पैरों के नीचे पक्की जमीन और सिर के ऊपर पक्की छत तो है लेकिन यह कैम्प तो, "जीवन के धधकते श्मशान थे। झुलसाती धूप और तेज़ाब-सी बारिश में कैसे वे लोग अपने परिवार और बच्चों के साथ उन टैन्टों में जीते होंगे! बारिश टैन्टों के अन्दर-बाहर कीचड़ ही कीचड़ कर जाती होगी। दुर्गा से सुना था कि कीचड़ की उस ज़मीन पर उगी घास में साँप-बिच्छू भी घुस आते हैं। कहा था उसने कि जहन्नुम है वो जहन्नुम! सुबह-सुबह शौचालयों के लिए लगती लाइनें, मल के ढेर, बदबू! पानी के लिए लम्बा इन्तज़ार। दिशाहीन आवारा होते बच्चे जो पैसों के अभाव में जेबों से संस्कार और मूल्य निकाल-निकालकर बेचते हैं।...रात में कहीं आशंका और भय से भारी हुई बाहँ अपनी जवान बेटी पर रखकर सोती माँ तो दिन-रात नहीं बुढ़ाती बेटियों के भागकर शादी करने का इंतज़ार करते बूढ़े माँ-बाप। बस ज़िन्दगी की साँस को किसी तरह हर हाल में बचाए रखने की मजबूर कोशिश!"[86]

'नरमेध' उपन्यास का नरेन्द्र जब विस्थापित होकर कैम्प में जाता है तो पत्रकार शंपा की सहायता से उसे 'प्रूफ रीडिंग' का काम मिल जाता है लेकिन कई परिवारों को सरकारी अनुदान पर ही

निर्भर रहना पड़ता है। आर्थिक संघर्ष केवल उन कश्मीरियों का नहीं है जिनके पर्यटन, रोजगार अथवा अन्य व्यवसायों को आतंकवाद ने कश्मीर में प्रभावित किया है बल्कि उन कश्मीरियों का भी है जो कैम्पों में अपनी मामूली जरूरतों को पूरा करने के लिए हर दिन जूझ रहे हैं।

कश्मीरी मुसलमानों का विस्थापन-

जब भी धर्म के आधार पर हिंसा होती है तो उसका 'टार्गेट' एक बड़ा समूह होता है। बेशक घर छोड़ने की धमकियाँ और नारे कश्मीरी पंडितों के लिए हों लेकिन उस दौर में वह कश्मीरी मुसलमान जो इसके समर्थक नहीं थे और सभी के लिए एक बेहतर जीवन की उम्मीद करते थे, या जो सेना और दहशतगर्दों के बीच पीसना नहीं चाहते थे उन्हें भी कश्मीर छोड़ना पड़ा था। जैसा कि बलराज पूरी लिखते हैं, "Muslim families from the valley had been forced to migrate"[87]

दरअसल कश्मीर में विस्थापन का संकट उन सभी पर था जो दहशतगर्दों के धर्म के नहीं या उनके विचारों से असहमत थे। खुद को इस्लाम का रक्षक साबित करनेवालों द्वारा कश्मीरी हिन्दुओं को कश्मीर से बेदखल करने की जो साजिश रची गई उसने कश्मीरी मुसलमानों की जड़ों को भी खोखला करना आरंभ कर दिया था। साथ-साथ रहते दो समुदायों में से जब किसी एक पर प्रहार किया जाता है तो दूसरे के लिए भी उस प्रहार के प्रभाव से बचना संभव नहीं होता। कश्मीरी हिन्दुओं के विस्थापन की साज़िश के बाद यही स्थिति कश्मीरी मुसलमानों की भी हो गई। जैसा कि 'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता कहती है, "जहाँ से हमें जड़े खींचकर उखाड़ा था, वहीं बगल में लगी हमारी साथी कौम की जड़ भी खुली ही है। उन पर मिट्टी नहीं चढ़ी। यही सहजीवन है। जंगल में पनपती फर्नों और मशरूमों के साथ यही होता है। एक उखाड़ो...दूसरा खुली जड़ लिए मर जाता है। न मरे न भी तो पनपना बन्द कर देता है।"[88] कश्मीरी हिन्दुओं के विस्थापन के बाद जो कश्मीरी मुसलमान कश्मीर में रह रहे हैं उनकी स्थिति को 'शिगाफ़' उपन्यास की नसीम के

माध्यम से समझा जा सकता है। नसीम पति से तलाक होने के बाद हिंसा और आतंक के उस माहौल में अपने बच्चे को बड़ा नहीं करना चाहती, जहाँ हर वक्त उसपर दहशतगर्दों या सेना की नज़र हो, जहाँ उसके बेटे पर जासूस अथवा मुखबिर होने का संदेह किया जाए, जहाँ ऐसा माहौल नहीं हो कि एक अकेली स्त्री अपने बच्चे की परवरिश के लिए नौकरी कर सके। अत: वह अपने बेटे के बेहतर भविष्य के लिए कश्मीर छोड़ देती है और दिल्ली चली जाती है। हालाँकि दिल्ली में नया जीवन शुरू करना उसके लिए आसान नहीं था, बल्कि इस प्रक्रिया में वह लंबे मानसिक अंतर्द्वंद और आर्थिक संघर्ष से गुजरती है। नसीम का यह विस्थापन कश्मीर में धर्म के आधार पर की जानेवाली राजनीति पर यह प्रश्नचिन्ह लगाता है, कि बहुसंख्यक धर्म से संबंधित होने के बावजूद भी उसे अपने बेटे का भविष्य कश्मीर में असुरक्षित क्यों लगता है? नसीम को कश्मीर छोड़ने के लिए किसी ने मजबूर नहीं किया, उसे कश्मीर छोड़ने की धमकी भी नहीं मिली और न ही उसके समुदाय के विरुद्ध नारे लगाए गए। जैसा कि अमिता, सुधा, शबरी या उन जैसे तमाम विस्थापित पंडितों के साथ हुआ था, लेकिन कश्मीर में परिस्थितियाँ इतनी बिगड़ गई थीं कि वहाँ रहना किसी के लिए भी सुरक्षित नहीं रह गया। कश्मीर में और कश्मीर से बाहर रहनेवालों की परिस्थितियाँ भले अलग हों लेकिन उनका दुःख, बेबसी और यातना साझी है। जैसा कि इसी उपन्यास की अमिता कहती है, "सोचती हूँ, बिना जलावतन हुए भी यह कैसी बेदर्द जलावतनी थी नसीम की। और जो वहीं रह रही हैं...उनकी हर रोज़ जिस्म से रूह की जलावतनी। कौन ज्यादा दुख में है- हम, जो वहाँ से भगा दी गईं...मार दी गईं...जला दी गईं...या वो वहाँ लगातार भाग रही हैं अपने वर्तमान से, रोज़ मर रही हैं?...पता नहीं!"[89]

उपन्यासों में चित्रित है कि कश्मीरी मुसलमान केवल आतंक और हिंसा के कारण ही नहीं बल्कि सेना और पुलिस के बढ़ते संदेह के कारण भी कश्मीर छोड़कर जाने को मजबूर होने लगें। 'नौशीन' उपन्यास का इम्तियाज़ भी इसी संदेह के कारण कश्मीर छोड़कर जाने को मजबूर हो जाता है। मक़सूद जो इम्तियाज़ के साथ स्कूल में पढ़ता था वह दहशतगर्द बन जाता है और

पुलिस ने इम्तियाज़ को आतंकी होने के संदेह में जेल में डाल देती है। इम्तियाज़ बड़ी मुश्किल से अपनी बेगुनाही साबित कर जेल से निकल पाता है लेकिन एक बार जेल चले जाने के बाद उसके लिए अब पहले जैसी स्थिति नहीं रह जाती है। वह पुलिस और दहशतगर्द दोनों की नज़रों में आ जाता है। अत: कश्मीर में रहना इम्तियाज़ को सुरक्षित नहीं लगता और उसे न चाहते हुए भी अपनी बहन हसीना के पास मुंबई जाना पड़ता है। बेशक इम्तियाज़ केवल कुछ दिनों के लिए कश्मीर से बाहर गया था और लेकिन ये कुछ दिन तमाम सुविधाओं और अपनापन के बावजूद भी उसके लिए बहुत कठिन थे। उसकी इस स्थिति से उन लोगों की पीड़ा का अंदाज़ा लगाया जा सकता है जो कभी अपने घर नहीं लौट पाएं। घर न लौट पाने की पीड़ा और छटपटाहट उपन्यासों में आए हर उस पात्र के मन में है जो अपने घरों से दूर हैं। बचने-बसने की जद्दोजहद के बीच इन पात्रों के मन में यह इच्छा है कि उनकी आगामी पीढ़ी कश्मीर में बेखौफ रह सकें। वे कश्मीर पर्यटक की हैसियत से नहीं बल्कि उसे अपनी जन्मभूमि कहने के हौसले के साथ जाएं, जहाँ उन्हें सहानुभूति या संदेह की दृष्टि से नहीं बल्कि वहाँ के नागरिक की दृष्टि से देखा जाए।

विस्थापन केवल एक व्यक्ति का नहीं होता बल्कि कई संबंधों का होता है, विरासतों का होता है, उम्मीदों का होता है। विस्थापन के दौरान कश्मीरियों का केवल घर या पहचान नहीं बल्कि संबंध, स्मृतियाँ, विरासत, धरोहर बहुत कुछ छूट गया। जब किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका घर छोड़ने के लिए विवश किया जाता है तो वह आघात किसी एक व्यक्ति, किसी एक समाज या किसी एक समुदाय पर न होकर समस्त मानवता पर होता है। भारतीय संविधान सभी भारतीय नागरिकों को कहीं भी बसने की इजाज़त देता है, बिना उसके धर्म, वर्ग और जाति को देखे। कश्मीर में हुआ विस्थापन संविधान द्वारा दिए गए नागरिक अधिकारों पर प्रश्नचिन्ह है।

v. कश्मीरी महिलाओं की स्थिति:

दंगा, क़बायली हमला एवं युद्ध जैसी सामूहिक हिंसा के दौरान स्त्रियाँ सबसे आसान शिकार होती

हैं। अगर कश्मीरी स्त्रियों की बात करें तो उन्होंने दूहरा नहीं बल्कि तिहरा शोषण झेला था- एक ओर कश्मीरी होने के नाते जहाँ वे इस भय में जीती हैं कि घर से बाहर गया पुरूष सही-सलामत वापस आएगा या नहीं, वहीं दूसरी ओर स्त्री होने के नाते वे शारीरिक शोषण भी झेलती है। इस स्तर पर कश्मीरी स्त्री पंडित या मुसलमान न रहकर केवल स्त्री देह ही रह जाती है क्योंकि "ख़ता किसी की भी हो, सज़ा औरतों को ही मिलती है...औरत का जिस्म कभी किसी के लिए हिन्दू या मुसलमान का जिस्म नहीं होता।"[90] तीसरे स्तर पर कश्मीरी स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक समाज की परंपरागत एवं रूढ़िगत मान्यताओं की आड़ में भी शोषित हैं। कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में इन तीनों स्तरों पर शोषित स्त्रियों की पीड़ा, अंतर्द्वंद और प्रतिरोध का चित्रण किया गया है।

पितृसत्तात्मक बेड़ियों में जकड़ी स्त्री-

कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में परंपरागत मान्यताओं और सामाजिक रूढ़ियों में कैद स्त्रियों की छटपटाहट का चित्रण किया गया है। जहाँ उसके बोलने, पढ़ने, हँसने, घूमने पर केवल इस लिए पाबंदी लगाई जाती है क्योंकि वह स्त्री है। उपन्यासों में भले भौगोलिक दृष्टि से कश्मीरी स्त्रियों की समस्या का चित्रण किया गया है लेकिन यह समस्या उन सभी स्त्रियों का यथार्थ है जो शोषित और उपेक्षित हैं। इस अर्थ में उपन्यास कश्मीरी स्त्री के शोषण को भारतीय स्त्री की त्रासदी से जोड़ते हैं। साथ ही इस यथार्थ को भी उजागर करते हैं कि भाषा, जाति, धर्म और प्रदेश अलग होने के बावजूद भी स्त्रियों की स्थिति और उनके शोषण का कारण लगभग एक है। स्त्री का शोषण उसके लैंगिक आधार पर किया जाता रहा है। जिसके अंतर्गत स्त्री-पुरुष के लैंगिक अंतर को सामाजिक-व्यवहार का अंतर बनाने की साजिश स्त्रियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने और उन्हें स्त्रीत्व एवं मातृत्व के घेरे में कैद करने हेतु ही की गई है।

'कथा सतीसर' उपन्यास की लल्ली का यह कथन "हमारी इच्छाएँ भी दूसरों की अपेक्षाओं की कसौटी पर खरे उतरने से ही ताल्लुक रखनी थीं।"[91] स्त्री को तथाकथित 'परफेक्ट स्त्री' बनाने का

प्रयास नज़र आता है। जिसके संबंध सिमोन द बोउवार कहती हैं 'स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है' और 'स्त्री-निर्माण' के अतिरिक्त प्रयास का ही परिणाम है कि स्त्री-सन्तान का जन्म होना प्रसन्नता नहीं बल्कि निराशा का कारण बन जाता है, वह जन्म से ही एक जिम्मेदारी और बोझ मान ली जाती है। स्त्री-संतान के प्रति उपेक्षा एवं निराशा का कारण वे कुप्रथाएं हैं जिसके कारण जन्म लेते ही उनके घरवालों के सामने दहेज़, विवाह और विवाह के बाद सभी अवसरों पर दिए जानेवाले उपहारों की ज़िम्मेदारी आ जाती है। ज़िम्मेदारी का यह बोझ स्त्रियों को जन्म से ही उपेक्षित बना देता है। इसी मानसिकता के तहत कश्मीरी समाज में स्त्री-पुरुष संतान में होनेवाले भेदभाव का चित्रण उपन्यासों में किया गया है। जैसा कि 'दर्दपुर' उपन्यास में देखा जा सकता है, "सुबह-सुबह जब मासटॉठी का पति रातभर नर्सिंग होम में रहने के बाद आया था तो आँगन में कांगड़ी की राख झाड़ रहा था। बड़ी बेटी फूला दौड़ते हुए पिता के पास आँगन में आकर पूछ बैठी थी, "क्या हुआ? बाबूजी क्या हुआ?" "तेरी बहन।" यह सुनते ही सुधा की माँ आँगन में आ धमकी थी जो कि खासी उदास थी और फूला के झूम उठने से नाराज हो उठी थी। "इतनी खुश क्यों हो? अपने पीछे भाई लाती...नहीं ला सकती थी क्या? बेटी हुई है वह भी दूसरी...हे भगवान! हमारे लिए बेटा नहीं तेरे पास?"[92] स्त्री के प्रति इस दृष्टिकोण का परिणाम है कि कन्या-पुत्र संतान में भेदभाव केवल जन्म के स्तर पर ही नहीं बल्कि शिक्षा के क्षेत्र में भी देखने मिलता है। 'कथा सतीसर' उपन्यास में अजोध्यानन्द के परिवार में सामान्यत: बच्चों में भेदभाव नहीं किया जाता था लेकिन केशवनाथ की दूसरी बेटी होनेपर सभी को अफ़सोस अवश्य हुआ था। उस परिवार में स्त्री संतान को स्नेह और अपनापन मिलने के बावजूद एक लकीर थी जिसके इस पार परिवार के लड़के थे और उस पार लड़कियां। इस लकीर को ध्यान में रखते हुए उनके लिए 'स्कूल' का चुनाव भी किया जाता था। "कात्या, राज्ञा को मैत्रेयी मिडिल स्कूल, छुटकू को बिस्को साहब के हेडो मेमोरियल स्कूल और दिद्दा शारिका को वसन्ता हाई स्कूल, जो कि एनी बेसेंट की कृपा से नया-नया ही शहर में खुला था। लड़कियों को मैत्रेयी और वसन्ता स्कूल इसलिए कि उनके भेजे

में भारतीय संस्कारों और मान्यताओं को पोसती शिक्षा भरनी आवश्यक थी। आखिर उन्हें पढ़-लिखकर सदगृहणियाँ और कुशल माताएँ ही बनना था। बेटे के भविष्य को मद्देनज़र ऊँचे पदों, डिग्रियों के लिए अंग्रेजी ठाठ अदबवाली शिक्षा ज़रूरी थी।"[93] चूँकि यह पहले से तय था कि लड़कियों को घर की ज़िम्मेदारी निभानी है और लड़कों को 'डिग्रियां' हासिल कर बड़ा पद पाना है। अत: बचपन से उन्हें उसी हिसाब से शिक्षित करने की परंपरा चल पड़ी थी। जिसके तहत लड़कियों को बिना अवसर दिए, बिना उनकी प्रतिभा को जाने-समझे उनसे कुछ करने और कुछ बनने के अवसर को छिन लिया जाना सामान्य बात थी। इस मानसिकता में पलती-बढ़ती स्त्रियों के सामने उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य यही था कि वह परिवार के प्रति अपने दायित्वों को निभाते हुए अपना जीवन व्यतीत करें, क्योंकि उन्होंने अपने घर और आस-पड़ोस की स्त्रियों का यही रूप देखा था। जहाँ उनका जीवन परिवार की सेवा से शुरू होकर वहीं ख़त्म हो जाता था।

कन्या-संतान के प्रति भेदभावपूर्ण मानसिकता का चित्रण केवल उपन्यासों में ही नहीं मिलता बल्कि कश्मीरी पंडितों पर लिखी गई किताब 'फैमिली एंड किनशिप, ए स्टडी ऑफ द पंडित ऑफ रूरल कश्मीर' में भी टी. एन. मदन ने इस मानसिकता को उजागर किया है, "the absence of daughters is not generally bewailed if a couple have sons. 'Daughters are guests', say the Pandits; 'they are ornaments held in custody to be surrendered at the rightful owner's demand'; 'they are the wealth of others and not of those who give them birth. Unlike sons, who are the support of their parents' old age, daughters are regarded as a heavy responsibility."[94] बेटियों को 'पराया धन' और बेटों को 'बुढ़ापे का सहारा' समझे जाने की मानसिकता का ही परिणाम है कि लड़कियों की शिक्षा को महत्व न देकर उनके गृहकार्य में कुशल बनाने पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जैसा कि उपन्यासों में चित्रित है लड़कियों को केवल उतना ही शिक्षित करना आवश्यक माना जाता है जितना की उनके 'सुघड़ गृहिणी' बनने

में सहायक हो, क्योंकि महत्व उनकी प्रतिभा का नहीं उनकी गृहकार्य में कुशलता का है। यही कुशलता उनकी कसौटी है, जिसपर उन्हें और उनके परिवार के संस्कारों को परखा जाता है।

घर और बाहर दोनों जगह स्त्रियों के प्रति इस दृष्टिकोण ने दहेज़ जैसी कुप्रथा को बढ़ावा दिया है। उपन्यासों में दहेज़ समस्या, दहेज़ के अभाव में होते अनमेल विवाह और विवाह के पश्चात दहेज़ की मांगों को पूरा न कर पाने की स्थिति में स्त्रियों को जलाकर मार देने की घटनाओं का चित्रण भी किया गया है। 'कथा सतीसर' उपन्यास की तुलसी के परिवार की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वह दहेज़ देकर उसका विवाह किसी अच्छे घर अथवा योग्य लड़के से कर सकें। ऐसी स्थिति में उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से होता है जो उससे उम्र में काफी बड़ा था। तुलसी कात्या से कहती है, "वह बुड्ढा है। पहली बीवी मर गई है, उससे दो बच्चे हैं। बड़ा वाला तो मेरी उम्र का है।" अभी तो वे बिना 'ह्चोत-द्योत'(दहेज) मुझे मांग रहे हैं। इन्हें नकार दें तो दूसरे लड़केवाले छरा छाँट लड़की थोड़ी ले लेंगे। कई बाते हैं कात्या तुम नहीं समझोगी हम बहुत गरीब है ना?"[95] अभावग्रस्त तुलसी के परिवारवालों के लिए बस इतना ही काफी था कि उसके होनेवाले पति के पास पैसे थे, वह बिना किसी मांग के तुलसी से विवाह करने को तैयार था। उनकी नज़रों में विवाह हेतु इससे अधिक किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं थी। जहाँ तक तुलसी की बात थी उसके लिए केवल इतना ही काफी था कि उसका विवाह बिना दहेज़ दिए हो रहा था और अब उसका परिवार उसके बोझ से मुक्त हो जाएगा। इस स्थिति में तुलसी के पास होनेवाले पति की उम्र अथवा अपने हमउम्र उसके बच्चों की उम्र के बारे में सोचने की कोई गुंजाइश नहीं थी। सभी की नज़रों में तुलसी भाग्यशाली थी, एक बड़ा परिवार और ढेरों जिम्मेदारियाँ, बस हो गया तुलसी का जीवन सफल। इसके अतिरिक्त भी स्त्री की कोई इच्छा हो सकती है इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। 'यहाँ वितस्ता बहती है' उपन्यास के राजनाथ की बेटी मिन्ना के जलाकर मार दिए जाने का कोई प्रत्यक्ष कारण तो नहीं मिलता लेकिन मिन्ना अपने ससुराल में उपेक्षित और प्रताड़ित थी जिसका एक कारण दहेज़ भी था। "मिन्ना की मौत की वजहें ढूंढी गयी,

अंदाज़े लगे। कईयों ने कहा, दहेज़ कारण था, उन्हें राजनाथ से जितनी उम्मीदें थी, उतना न मिला होगा...पर उनमें सच कोई नहीं जानता था। जो सच जानते थे, उन्होंने अपने होंठ पर मुहर लगा दी थी।"[96] मिन्ना की मौत का कारण चाहे जो रहा हो लेकिन एक उन्नीस वर्षीय लड़की को जलाकर मार दिए जाने की घटना और सच जाननेवालों की चुप्पी समाज में स्त्री त्रासदी को दिखाती है जहाँ उसका प्रताड़ित होना, उपेक्षित रहना और यहाँ तक कि मरना भी उतनी असमान्य घटना नहीं होती जितनी की होनी चाहिए। मिन्ना के ससुरालवालों ने न केवल उसकी मौत को दुर्घटना का रूप दे दिया बल्कि राजनाथ को बिना बताए उसका अंतिम संस्कार भी कर दिया। राजनाथ चाहकर भी कुछ नहीं कर पाएं क्योंकि जो लोग मिन्ना की मौत के सच से वाकिफ थे वे मौन थे। उनके मौन रहने के अपने-अपने कारण थे। कुछ लोग गवाह बनकर कचहरी के चक्कर नहीं लगाना चाहते थे तो कुछ दबाव में आकर चुप थे। मिन्ना के पड़ोस में रहनेवाली स्त्री उसकी हत्या के संबंध में कुछ बताना चाहती है, लेकिन उसका पति उसे भी मारने की धमकी देकर चुप करा देता है। वह चाहकर भी कुछ नहीं बोल पाती है क्योंकि वह जानती है कि उसे भी मिन्ना की स्थिति में पहुँचा देना उसके ससुरालवालों के लिए कोई मुश्किल काम नहीं था।

उपन्यासों में दहेज़ समस्या के साथ ही विधवा विवाह का निषेध और विधवाओं की स्थिति का भी चित्रण किया गया है। 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की शबरी विधवा थी। उसका भाई अम्बरनाथ चाहता है कि शबरी का विवाह उसके दोस्त नित्यानन्द के साथ हो जाए। नित्यानन्द भी शबरी के साथ विवाह करने के लिए तैयार था लेकिन उसके परिवारवाले इस विवाह का विरोध करते हैं। नित्यानन्द जब अपनी माँ से शबरी के साथ विवाह करने की इच्छा ज़ाहिर करता है तो उसकी माँ कहती है, "तेरा दिमाग तो नहीं चल गया है? अरे तू जानता भी है क्या कह रहा है। हरे...हरे...हरे...एक विधवा से शादी करेगा तू? विधवा बनेगी हमारे घर की बहु? क्या कहेगी दुनिया...पंडित सर्वानन्द कौल के बेटे की विधवा से शादी...त्राहि...त्राहि...त्राहि! ।"[97] नित्यानानन्द और अम्बरनाथ की दोस्ती केवल उनके बीच ही सिमित नहीं थी बल्कि उनके

संबंध पारिवारिक थे। यहाँ तक कि दोनों घरों के आँगन का दरवाज़ा भी साझा था। इसके बावजूद भी नित्यानन्द की माँ इस विवाह के लिए अपनी सहमती नहीं देती है, क्योंकि विधवा-विवाह समाज में निंदनीय था। समाज की नज़रों में विधवाओं को विवाह करने और अपने जीवन को दुबारा शुरू करने का कोई अधिकार नहीं। वे घर-समाज में सबसे उपेक्षित समझी जानेवाली वस्तु थी। इन विधवाओं का शोषण उन्हें सभी अधिकारों से वंचित रखकर उनसे घरेलू काम करवाने तक ही सिमित नहीं था, बल्कि घरों में उनका दैहिक शोषण भी होता था। इस शोषण के परिणामस्वरूप पैदा हुए शिशुओं को कचरे के डब्बे में फेंके जाने की घटना का चित्रण भी 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास में किया गया है। उपन्यास का आरंभ एक नवजात का शव के कचरे के डब्बे में पाए जाने से होता है। जिसका दोषी केवल स्त्रियों को ठहराया जाता है। सभी उस बच्चे की माँ को ही दोष देते हैं, उसे अपशब्द कहते हैं। यह सब सुनकर नित्यानन्द अम्बरनाथ से कहता है, "कमबख्त कहीं के...छोटी उम्र की बेवाओं से नौकरानी जैसा सुलूक करते हैं...दिन-भर काम करवातें हैं और रात को...फिर अपने कुकर्मों को ढँकते फिरते हैं। उस बेज़ुबान को यहाँ-वहाँ कुत्तों के लिए..."[98] दहेज़ प्रथा, अनमेल विवाह और विधवा-समस्या यह सभी समस्याएं एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। दहेज़ के अभाव में लड़कियां अनमेल विवाह की बलि चढ़ जाती हैं, जहाँ उम्र में बड़े पुरुष से उनका विवाह कर दिया जाता है और विवाह के पश्चात जब पति की मृत्यु हो जाती है तो वह स्त्री शारीरिक-मानसिक शोषण को झेलने को अभिशप्त हो जाती है।

'कथा सतीसर' उपन्यास में विधवाओं की उस स्थिति का चित्रण किया गया है जहाँ वे शारीरिक शोषण का शिकार भले न हुई हो लेकिन समझा उसे केवल देह ही जाता है- मन और इच्छा से रिक्त देह। इस उपन्यास की सोना का पति कश्मीर में हुए दंगे में मारा जाता है और सोना बहुत कम उम्र में विधवा हो जाती है। पति के मरने के साथ ही सोना की सारी आकांक्षाओं-इच्छाओं को मृत समझ लिया जाता है। सोना के मन का वह हिस्सा समाज के लिए अस्वीकार्य था जो दूसरों के अलावा अपने विषय में सोचने की हिमाकत करे। अत: अपनी देह की सहज मांगों की वश में

करने का सोना के पास केवल यही मार्ग था- "कैसा बाज़ार था यह भी? यहाँ मन के झरते आवेग को, मंत्रों-आरतियों में डुबोने का विधान था, तन की दहकती माँगों के लिए नीतिबद्ध मर्यादाएँ थीं। प्यार किससे, कितना और कब करने के कड़े कायदे निर्धारित थे। शरीर की सहज माँग यहाँ वासना और पापाचार थी, सो ठिठुरते माघ मास में वितस्ता के ठंडे जल में डुबकी लगाने में, उबरने के इलाज थे।"[99] सोना के लिए अपने वैवाहिक जीवन की सुखद स्मृतियों को याद करना भी वर्जित था कि कहीं उसका मन न भटक जाए और विडंबना यह थी कि उसे एक क्षण के लिए भी यह भूलने नहीं दिया जाता था कि वह विधवा है। सोना के पास खुद को पूजा-पाठ अथवा घर-परिवार-बच्चों-रिश्तेदारों की जिम्मेदारियां निभाते हुए, बिना कुछ पाने की इच्छा लिए स्वयं को होम करते जाना ही एकमात्र विकल्प था। बचपन से स्त्री के लिए निर्धारित तमाम नियमों को सुनने-सीखने के बावजूद सोना के मन में दबी-छुपी स्त्री कभी-कभी बाहर झाँकने को आकुल हो उठती थी। सोना का परिवार उसका बहुत ध्यान रखता था लेकिन कोई भी उसकी निजी इच्छाओं और ज़रूरतों को नहीं समझना चाहता था, क्योंकि उन्हें पता था कि स्त्री-मन के भीतर झाँककर समाज द्वारा वर्जित उसकी इच्छाओं को शह देने का क्या परिणाम हो सकता है। सोना भी इस बात को समझती थी लेकिन तमाम बंदिशों के बावजूद भी उसका मन अपने बच्चों के शिक्षक पृथ्वी के प्रति आकर्षित हो जाता है। सोना जानती थी कि यह आकर्षण उसके लिए वर्जित है अत: वह एक ऐसे अंतर्द्वंद से गुजरती है जहाँ वह पृथ्वी से प्रेम तो करती है लेकिन सामाजिक नियमों को तोड़ने की हिम्मत नहीं कर पाती है। जिसके परिणामस्वरूप पृथ्वी के चले जाने के बाद भी सोना खिड़की से बाहर उस रास्ते को चुपचाप देखा करती थी जहाँ से पृथ्वी हमेशा के लिए चला गया था। सामाजिक बंधनों में कैद सोना उस कशमकश में जीती है जहाँ वह न ही पृथ्वी को भूल पाती है और न ही उसे याद रखना चाहती है।

उपन्यासों में एक ओर जहाँ सोना जैसी विधवाओं का चित्रण है वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा किया जानेवाला विरोध भी है। 'ऐलान गली ज़िन्दा है' उपन्यास की रत्नी सोना की तरह अपनी सहज

इच्छाओं को दबाती नहीं है बल्कि स्त्री-विरोधी मानसिकता का विरोध करते हुए अपना जीवन अपनी शर्तों पर जीती है। यह निर्णय रत्नी के लिए आसान नहीं था। अरुंधती जैसी स्त्रियों की नज़रों में "रत्नी मात्र एक लुगाई थी, सो भी विधवा। उसकी इतनी बेहयाई कि मुँह उठाकर मर्दों से ही-ही ठी-ठी करे? क्या यही शराफत की निशानी है?...पति होता तो झोंटा पकड़कर तहखाने में बन्द न कर देता?"[100] लेकिन रत्नी अरुंधती जैसी स्त्रियों की इन तमाम उपेक्षाओं और अवहेलना को नज़रंदाज़ कर दुबारा विवाह करती है। यह अलग बात है कि इस विवाह में उसकी हैसियत आजीवन दूसरी स्त्री ही बनी रहती है। जीवन के अंतिम क्षणों में भी रत्नी उस पति से प्रेम और सांत्वना के दो शब्द सुनने को तरस जाती है जिसे उसने आजीवन बस दिया ही था, बिना कुछ पाने की उम्मीद किए। 'कैंसर' से जूझती रत्नी का अब पति की नज़रों में कोई महत्व नहीं था। सोना की ही तरह रत्नी के हिस्से अंतत: अकेलापन ही आता है। बस इतना अंतर है कि रत्नी ने जहाँ अपनी नियति को बदलने का प्रयास किया था वहीं सोना ने चुपचाप उसे स्वीकार किया था।

स्त्री-विरोधी मानसिकता केवल कश्मीरी पंडित परिवारों में ही नहीं थी बल्कि कश्मीरी मुस्लिम समाज भी इस मानसिकता से मुक्त नहीं है। वहाँ भी स्त्री केवल उपभोग की वस्तु और वंश बढ़ाने का माध्यम है। स्त्री पर अपना मालिकाना हक़ मानकर उसे संतान उत्पत्ति का माध्यम बनाकर किए जानेवाले उसके शोषण का ही परिणाम था कि फज़ी न चाहते हुए भी तीसरी बार गर्भवती हो जाती है, क्योंकि पति को मना करने पर वह उसे दूसरी शादी कर लेने की धमकी देता था। फज़ी कात्या से अनुरोध करती है कि "मैं नहीं चाहती डॉक्टर साहिबा! आप उसे समझा दो न! रात-रात भर चीखती रहती हूँ। वह नहीं मानता। बहुत तकलीफ है। मुझे आज़ाद कर दो न...कह दूँगी आप ही गिर गया..."[101] फज़ी के पति के लिए बच्चे को दुनियाँ में आने से रोकना इस्लाम के विरुद्ध था, कुफ्र था। उसके लिए फज़ी का स्वास्थ, उसका जीवन मायने नहीं रखता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि फज़ी अपने तीसरे प्रसव के दौरान मर जाती है। फज़ी मरना नहीं चाहती थी बल्कि अपने दोनों बच्चों के साथ और उनके लिए जीना चाहती थी।

'नौशीन' उपन्यास में स्त्री-शोषण के दूसरे पक्ष को उजागर किया गया है। इस उपन्यास की पात्र सकीना अपने पति से अलग होकर पिता के घर में रहती थी। वह डी.एस.पी. कादिर को पसंद करती थी और उससे विवाह करना चाहती थी। सकीना का भाई को यह रिश्ता मंजूर नहीं था, क्योंकि डी.एस.पी. कादिर से सकीना का विवाह उसके लिए अपने परिवार की इज्ज़त पर धब्बा लगने जैसा था। अत: सकीना की इच्छाएँ उसके परिवार के तथाकथित सम्मान की बलि चढ़ जाती हैं। सकीना का पूरा जीवन अपने भाई के बच्चों को संभालने में ही गुजर जाता है। सकीना अपना परिवार चाहती थी, माँ बनने और कहलाने का सुख चाहती थी। अपने भाई के बच्चों को पूरे दिन सँभालने के बावजूद भी वह उनकी 'फूफी' ही थी माँ नहीं। अपनी फूफी की इस दशा को देखकर हसीना सोचती है, "आदमी सोचता है- औरत को दो वक़्त की रोटी और कपड़े के अलावा और क्या चाहिए! एक नाम तो घर में रहकर मिलता ही है। ये नाम सिर पर एक मुकुट की तरह लगा रहता है, जिससे सबको ये पता चलता है कि ये मुकुट वाली किसकी बेटी है, किसकी बीबी है, किसकी माँ है। फूफी के नाम का कोई मुकुट नहीं है, वो सिर्फ शालवालों की फूफी है। भतीजे, उनके बच्चे, रिश्तेदार, आया गया सबकी फूफी है ये। पर फिर क्यूं फूफी को हर वक़्त लगता है, उसे कहीं जाना है। इतनी सुंदर, इतनी दबंग, इतनी रूतबेवाली औरत क्या सिर्फ फूफी होकर मर जाने के लिए पैदा हुई थी? एक आह भरकर हसीना उठी।"[102]

इन उपन्यासों में केवल सामाजिक रूढ़ियों, राजनीति, हिंसा और धर्म की बेड़ियों के आगे दबी-झुकी स्त्री का ही चित्रण नहीं किया गया है नहीं है, बल्कि स्त्री-पात्रों के माध्यम से कश्मीरी-स्त्री के उस साहसी और सशक्त रूप का भी चित्रण किया गया है जो परिस्थितियों से डरती नहीं, गलत को स्वीकारती नहीं बल्कि यथासंभव उसे बदलने का प्रयास भी करती हैं। 'कथा सतीसर' उपन्यास की कात्या पढ़ना चाहती है, 'कितना भी पढ़ लो, मर्द नहीं बन सकती' जैसी सोच को बदलना चाहती है। बेशक वह 'मर्द' नहीं बनना चाहती लेकिन एक स्त्री होते हुए भी अपनी एक पहचान चाहती है। वहीं 'शिगाफ़' उपन्यास की नज़्म विपरीत माहौल में भी साहस कर जीने का

मार्ग तलाशती है। यह स्त्री पात्र उन कश्मीरी स्त्रियों का प्रतिनिधत्व करती हैं जो पितृसत्तात्मक मानसिकता की कैद से निकलने को व्याकुल हैं। उपन्यासों में स्त्रियों के उस संघर्ष को भी दिखाया गया है जहाँ वह पुरुषों की राजनीति में स्वयं को मोहरा बनाने का, देह के आधार पर अपनी पवित्रता-अपवित्रता तय करने का और सामाजिक नियमों के आधार पर स्त्री स्वतंत्रता और पहचान को नकारे जाने का विरोध करती हैं।

हिंसा और कश्मीरी हिन्दू स्त्री-

कश्मीर में होनेवाली हिंसा, चाहे सन् 1947 में हुआ क़बायली हमला हो या सन् 1989 के बाद बढ़ती हिंसक घटनाएँ, में कश्मीरी हिन्दू स्त्रियाँ सबसे आसान 'टार्गेट' थीं। उनका शारीरिक शोषण विकृत मानसिकता के परिणाम के साथ ही एक हथियार भी था जिसका प्रयोग उनके परिवार अथवा उनके समूचे समुदाय को डराने, अपमानित करने और अपनी बात मनवाने के लिए किया गया था। क़बायली हमले के दौरान हमलावर कश्मीर को डोगरा राजा के शासन के मुक्त कराने के उद्देश्य से आए थे लेकिन इस दौरान उन्होंने बड़ी संख्या में स्त्रियों का बलात्कार और उनकी हत्या की थी। क़बायलियों की इस बर्बरता का चित्रण करते हुए क्षमा कौल अपने उपन्यास में लिखती हैं, "यहाँ तक कि एक-दो वर्ष की बच्ची को भी बख्शा नहीं गया और बलात्कार की प्रक्रिया में ही वह ठण्डी हो गयी।...बलात्कार से स्त्रियों और लड़कियों को क्षत-विक्षत किया गया।"[103] इन हमलावरों के स्त्री की उम्र या उसकी स्थिति मायने नहीं रखती थी। उन्होंने क्रूरता की सारी सीमाएं पार कर दी थी, बच्ची, बूढी, गर्भवती, सद्य: प्रसूता, बीमार कोई भी स्त्री इनसे बच नहीं पाई थी।

सन् 1947 में हुई इस घटना के बाद यदि 90 का दशक देखें तो यह वह समय था जब कश्मीर में माहौल पंडित विरोधी बनने लगा था। इस दौरान हिन्दू स्त्रियों के लिए अभद्र भाषा, नारों का प्रयोग कश्मीर में सामान्य घटना हो गई थी। अपनी डायरी 'सिसकियाँ लेता स्वर्ग' निदा नवाज़ लिखते हैं, " 'हम क्या चाहते पाकिस्तान बटो रोस ता बटन्यु सान' अर्थात हम पाकिस्तान चाहते

हैं जिसमें कश्मीरी हिंदू औरतें हों किंतु कश्मीरी हिंदू पुरुष न हों।"[104] ऐसे नारे लगभग सभी उपन्यासों में हिन्दू की जगह पंडित शब्द के साथ चित्रित हुए हैं। कश्मीरी पंडित समुदाय इन नारों को सुनने और नज़रअंदाज़ करने के लिए मजबूर था क्योंकि उस समय उसके पास केवल दो ही विकल्प थे। पहला, मौन रहकर सब सहना और दूसरा, कश्मीर छोड़कर चले जाना। यह दोनों ही विकल्प उनके आत्मसम्मान पर निर्मम प्रहार थे। नारों अथवा धमकियों में स्त्रियों के प्रति यह भाषा और भाव उस मानसकिता को दिखाती है जहाँ धर्म अथवा आज़ादी के नाम पर कुछ लोगों द्वारा अपनी कुत्सित इच्छाओं को पूरा करने का प्रयास किया जा रहा था। एक ऐसे पितृसत्तात्मक समाज में जहाँ स्त्री पहले से ही केवल 'देह' समझी जाती हो, वहाँ इस प्रकार की स्त्री-विरोधी बातें इस मानसिकता को और अधिक बढ़ावा देने लगी थीं। ऐसी परिस्थितियों में स्त्री यदि दूसरी जाति, धर्म अथवा अल्पसंख्यक समुदाय की होती है तो उसको निशाना बनाना और अधिक आसान हो जाता है। 'नरमेध' उपन्यास में चित्रित है कि जिस मुहल्ले में सुमिता का बचपन व्यतीत हुआ था, वहीं उसे अपशब्द सुनने पड़ते हैं। केवल इसलिए क्योंकि वह कश्मीरी पंडित स्त्री थी और उसका परिवार अब तक कश्मीर छोड़कर नहीं गया था। अपने साथ हुए इस व्यवहार से अपने परिवार को अवगत कराते हुए सुमिता कहती है, "यह तो सच है कि मुसलमानों की मानसिकता बदलने लगी है। जहां पहले मोहल्ले की लड़की, वह हिंदू हो या मुसलमान, सब मोहल्लावासियों के लिए बहन-बेटी समान होती थी, आजकल सगे भाई-बाप को छोड़कर किसी के लिए कुछ भी नहीं रही। कल जब मैं कॉलेज से घर आ रही थी तो हमारे ही कदल में मुझ पर फोहश आवाजें कसी गयी, और ऐसा करने वाले निश्चय ही कदल के नौजवान थे।"[105] वह जगह जहाँ सभी सुमिता के जान-पहचान के थे, वहाँ उसके साथ होनेवाला अभद्र व्यवहार उस स्त्री-विरोधी मानसिकता का पर्याय है जहाँ संबंध नहीं स्त्री-देह मायने रखती है। कश्मीरी हिन्दू स्त्रियों के लिए यह व्यवहार केवल अपशब्द अथवा नारे तक ही सिमित नहीं था बल्कि दहशतगर्दों ने उनके साथ बर्बरता की सारी सीमा पार कर दी थी। उन्होंने न केवल स्त्रियों के साथ बलात्कार किया था बल्कि

अमानवीय ढंग से उनके शरीर को क्षत-विक्षत भी कर दिया था, ताकि पंडितों को डराया और अपमानित किया जा सके। जैसा कि 'एक कोई था कहीं नहीं सा' उपन्यास में चित्रित है कि कैसे "कहीं किसी पंडित स्त्री को सर से धड़ तक दो हिस्सों में काट दिया गया तो दूसरी को सामूहिक बलात्कार के बाद घायल अवस्था में निर्वस्त्र सड़क पर छोड़ दिया गया। यह एक जीता-जागता अमानवीय व भयावह सन्देश था पूरे पंडित समुदाय के लिए कि कश्मीर छोड़कर भाग जाओ वर्ना तुम्हारे परिवार की स्त्रियों का भी यही हश्र होगा।"[106]

कश्मीर में बढ़ती इन घटनाओं से भयभीत होकर स्त्रियाँ अपने पहनावे को लेकर सजग हो गई थी। उन्हें क्या पहनना है यह उनका चुनाव नहीं था बल्कि दहशतगर्दों का उनके लिए ज़ारी किया गया फरमान था। 'पाषाण युग' उपन्यास में चित्रित है कि किस प्रकार दहशतगर्दों द्वारा स्त्रियों को अपने-अपने धर्म के अनुसार कपड़ें पहनने का आदेश दिया गया था, ताकि उनकी धार्मिक पहचान कर उनके साथ बर्ताव किया जा सके। इस उपन्यास की पात्र अंजलि जब 'कॉलेज' पढ़ाने जाती है तो उसे वहाँ एक किताब मिलती है। उस किताब में मुसलमान स्त्रियों को पर्दा करने, सिख स्त्रियों का परांदा पहनने और हिन्दू स्त्रियों को बिंदी लगाने के निर्देश दिए गए थे। अंजलि के लिए यह स्थिति और यह फरमान इतना अधिक भयभीत करनेवाला था कि वह अपने हिंदू पहनावे में अपने घर से निकलने में डरने लगी थी। सेना में कार्यरत अपने दोस्त देवेंद्र से मिलने जाने के लिए अंजली "बालों का जुड़ा बांध कर, दुपट्टे को माथे तक खींचकर और ढीले कपड़े पहन कर उससे मिलने जाती थी-अपने हिंदू होने की एक-एक पहचान को यत्न पूर्वक छिपाते हुए।"[107] कश्मीर की आज़ादी के नाम पर स्त्रियों के साथ होनेवाला यह व्यवहार कश्मीर को सदियों पीछे ले जा रहा था।

अपनी इच्छानुसार पहनावे के चुनाव की आज़ादी का छीने जाने ने कश्मीरी स्त्रियों की मन:स्थिति को किस हद तक प्रभावित किया था इसे 'शिगाफ़' उपन्यास की इस घटना के माध्यम से समझा जा सकता है। 'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता जो विस्थापित कश्मीरी स्त्री है, एक सेमीनार में

भाग लेने कश्मीर जाती है तो वहाँ उसकी मुलाकात 'सोशियोलाजी' की प्रोफ़ेसर आयशा से होती है। आयशा अपनी और अमिता की स्थिति में तुलना करते हुए उससे कहती है कि अमिता जैसी कई हिन्दू स्त्रियाँ जो कश्मीर से बाहर चली गई हैं वह धर्म के नाम पर लगनेवाली पाबंदियों और मिलनेवाली सजाओं से मुक्त हो गई हैं। कश्मीर से बाहर वह अपनी इच्छानुसार कपड़े पहन सकती हैं और जो चाहे कर सकती हैं लेकिन कश्मीर में रहनेवाली मुसलमान स्त्रियाँ अब तक आतंक एवं दहशत के घेरे में कैद हैं। आयशा ने यह बात अमिता के 'जीन्स और स्लीवलैस कुर्ते' को देखते हुए कही थी। अमिता के पहनावे को देखकर आशया के मन में यह टीस उठीकि कश्मीर में रहनेवाली स्त्रियाँ भी इसी ज़िन्दगी और चयन की स्वतंत्रता की हकदार थी। अत: आयशा का यह मानना था कि जो स्त्रियाँ कश्मीर से विस्थापित हैं वह कश्मीर में रहनेवाली स्त्रियों की तुलना में बेहतर स्थिति में हैं। स्वयं पर लगाई जानेवाली बंदिशों ने आयशा के मन को इतना अधिक आहत किया था कि वह अमिता जैसी स्त्रियों के जीवन के केवल एक ही पहलू को देखती है, लेकिन इस जीवन का दूसरा पहलू वह था जहाँ अमिता जैसी विस्थापित स्त्रियों की देह और आत्मा दोनों आहत थी। उनके सामने बलात्कार का संकट केवल कश्मीर में नहीं था बल्कि वहाँ से निकलने के बाद कैम्प से लेकर किराये के घर तक था। दरअसल अमिता जैसी तमाम विस्थापित स्त्रियाँ कहीं भी सुरक्षित नहीं थी। न कश्मीर में और न ही वहाँ से विस्थापित होकर किराये के घर अथवा कैम्प में।

अमिता का परिवार कश्मीर छोड़ने के बाद जम्मू में किराए के घर में रहने लगा था। अमिता का मकान मालिक उसके परिवार की दयनीय स्थिति से परिचित होने के बावजूद भी उनके प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखता है और स्नानघर में अमिता के साथ दुर्व्यवहार करता है, "कुर्त्ता आधा मेरी बाँह में था, आधा गर्दन में और मुँह ढका हुआ था कि अचानक मुझे अपनी छातियों पर गुनगुने हाथ महसूस हुए...मैं दम लगाकर चीखी। कुर्त्ता हटाया तो मकानमालिक सामने था। उसमें मेरा मुँह दबोच लिया था। "श्श्श..चुप..चुप!" वह मुझे अपने से सटाटा रहा...छूता रहा मगर मैं

चीखती चली गई।"[108] मकान मालिक की इस हरकत के बाद अमिता का परिवार किराए के घर को छोड़कर न चाहते हुए भी कैंप में रहने को मजबूर हो जाता है। अमिता के साथ जो कुछ हुआ, वह कश्मीर में नहीं बल्कि उस जगह होता है जहाँ वह धर्म के आधार पर बहुसंख्यक थी। यह व्यवहार स्त्री के प्रति उस मानसिकता को दिखाता है जिसके कारण वह चाहे कहीं भी रहे लेकिन रहती केवल भोग की वस्तु ही है।

विस्थापित कश्मीरी स्त्रियाँ कैंपों में भी सुरक्षित नहीं थीं बल्कि वहाँ कई और समस्याएं उनके सामने थीं। कश्मीर में स्त्रियों के साथ होनेवाली बलात्कार और हत्या जैसी घटनाओं से डरकर माता-पिता अपनी बेटियों के साथ इस उम्मीद में कैंपों में शरण लेते हैं कि घर-संपत्ति छूट भी जाए तो भी उनकी बेटियों की जान और तो इज्जत तो बची रहेगी, लेकिन उनका यह भ्रम कैम्प में आकर बहुत जल्दी टूट जाता है। कैम्पों के आसपास के दुकानदारों के लिए कैम्प में रहनेवाली विस्थापित स्त्रियाँ मात्र देह थीं जो उन्हें आसानी से उपलब्ध हो सकती थी। उनके साथ वह जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकते थे। कैम्पों में भले इन स्त्रियों को मौत का भय नहीं हो लेकिन उनके वज़ूद और आत्मसम्मान पर प्रहार यहाँ भी हुआ। बिना किसी निजता और सुरक्षा के कैंपों में रहनेवाली इन स्त्रियों और उनके परिवार के पास कहीं और जाने का विकल्प भी नहीं था क्योंकि कश्मीर छोड़कर तो वह कैंपों में आए थे अब यहाँ से कहाँ जाते? 'कथा सतीसर' उपन्यास के पात्र शिवजी भट्ट और उसकी पत्नी शुभावती अपनी बेटियों को सबकी नज़रों से छिपाकर रखना चाहते थे, लेकिन छिपाते भी तो कहाँ? उन्हें तो कैम्प में सिर छुपाने की जगह भी बहुत मुश्किल से मिली थी। ऐसे में "शुभावती, लड़कियों को आँख से ओट नहीं होने देती। छातियों को कपड़े से कसकर बँधवाती है। बस में होता, तो अपनी कोख में छिपा लेती। क्या करे? वहाँ से बचाकर लाई, पर यहाँ भी आँखों से लीलनेवालों की कमी नहीं। कल ही राशनवाला बोल रहा था, "लड़कियों को भेजा करो आंटी, राशन के लिए, क्यों धूप में तकलीफ पाती हो?" शुभावती आदमी की नज़र को क्या पहचानती नहीं? पर बोली कुछ नहीं। कुछ कहने से कौन-सा मसला

हल होना था? रात को, सिरहाने-पायतानें दोनों बेटियों को लेकर एक खाट पर सोती है शुभावती। गर्मी में किसी का ओढ़ना सरकता है, किसी की जाँघें खुल जाती हैं। शुभावती साड़ी फैलाकर, फैलती हुई लड़कियों की लाज ढकती है"[109] शुभावती की नज़रों में कश्मीर या कैम्प में कोई विशेष अंतर नहीं था। वहाँ दहशतगर्द बिना किसी भय के स्त्रियों पर अत्याचार करते थे और कैम्प में यह कुछ हद तक दबा-छिपा था। इसी उपन्यास की शारदा ने अपनी उम्र के 4 से 14 वर्ष की उम्र कैंप में बिताए थे। शरणार्थी स्त्री होने की पीड़ा को वह हर दिन अपनी देह और आत्मा पर झेलती थी। शारदा बहुत कम उम्र में कश्मीर छोड़कर कैम्प में आ गई थी अत: कश्मीरी आतंकवादियों के चेहरे उसे भले याद नहीं थे, लेकिन उनकी बर्बरता के जो क़िस्से उसने सुने थे और कैम्प में जो उसने झेला था उससे आतंकियों की जो छवि उसके मन में बन गई थी उसे बताते हुए वह कहती है, "जानती हूँ, कैसे होते होंगे मिलिटेंट! वैसे ही होंगे, जो 'बच्ची-बच्ची' कहकर गलियों-बाज़ारों में दबोचते हैं। सामान लेने जाओ, तो पिछवाड़े आओ, शाम को आओ, सस्ती सब्जी मिलेगी। क्या-क्या बहाने गढ़, इधर-उधर चिकोटियाँ काटते हैं। एक मुस्टंडे ने पीछे से झप्पी मार शारदा को कैसे तो बुरी तरह से जकड़ लिया था कि उसकी कमीज गन्दी कर दी।"[110] शारदा द्वारा की गई यह तुलना उस तर्क को ख़ारिज करती है जो कश्मीरी पंडित स्त्रियों के साथ कश्मीर में हुए व्यवहार को केवल उसके धर्म से जोड़ते हैं। कश्मीरी हिन्दू स्त्रियों के शोषण में बेशक उनके धर्म को आधार बनाया गया था, लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कश्मीर में धर्म केवल एक आड़ है अपने किए गए को जायज़ ठहराने का, क्योंकि केवल धर्म ही स्त्री-शोषण का आधार होता तो कश्मीरी मुसलमान स्त्रियाँ बलात्कार की शिकार नहीं होतीं। न ही गैर मुसलमान स्त्रियों को कश्मीरी से बाहर वह सब झेलना पड़ता जो अमिता, शारदा या शुभावती की बेटियों ने झेला था। अत: यह कहा जा सकता है कि इस स्तर पर संसार की हर स्त्री चाहे वह कश्मीरी हो या गैर कश्मीरी एक धरातल पर खड़ी पाई जाती है। जिनकी परिस्थितियाँ भले अलग हो लेकिन उनके प्रति दृष्टिकोण और उनकी नियति एक है।

कैम्प में कश्मीरी स्त्रियों को शारीरिक शोषण से इतर भी कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा है। साफ-सफाई का अभाव, गर्भावस्था के दौरान आवश्यक सुविधाओं का अभाव, दैनिक क्रियाओं में आनेवाली दिक्कत आदि भी उनके सामने थी। कैम्प में रहनेवाली स्त्रियों की इन समस्याओं को ख़ालिद बशीर की किताब 'कश्मीर: एक्स्पोजिंग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव' में उद्धरित शर्मिष्ठा के अनुभवों द्वारा समझा जा सकता है, "Attending nature's calls is no less than an ordeal here. The toilets are crowded and filthy. Men and boys can still find some open spaces to unburden themselves but we [females] have to wait and wait to manage even activities which are so normal"[111]

ऐसे माहौल ने इन स्त्रियों की मानसिक स्थिति को भी प्रभावित किया था। मौत का भय, विस्थापन की पीड़ा, अनिश्चित भविष्य, बदहाली, गरीबी, शिक्षा एवं चिकित्सा का अभाव, अपमान और मानसिक तनाव ने इनके मन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला था जिसकी वजह से बड़ी संख्या में कश्मीरी स्त्रियाँ मनोरोग से ग्रसित हो गई थी। "जम्मू और कश्मीर सरकार की चिकित्सीय पुनर्वास विभाग की वर्ष 2000 की रिपोर्ट बताती है कि इन महिलाओं में 76 प्रतिशत अलग-अलग तरह के एंक्जाइटी डिसऑर्डर, फोबिया और पैनिक अटैक से ग्रस्त थीं तो 20 प्रतिशत महिलाओं को अनिद्रा और व्यक्तित्व-सम्बन्धी समस्याएँ थीं। उनमें एक बड़ी संख्या डिप्रेशन और नशे की शिकार महिलाओं की भी थी। मानसिक-शारीरिक समस्याओं का असर इसी से समझा जा सकता है कि विस्थापन के बाद मनोपाज की उम्र कम हो गई थी और 36 प्रतिशत महिलाओं का मेनोपाज 40 की उम्र से पहले ही हो गया था। इसमें एक-चौथाई की उम्र तो 34 वर्ष से भी कम थी। इसका असर उनकी प्रजनन क्षमता पर भी नकारात्मक रूप से पड़ा।"[112]

शारीरिक और मानसिक शोषण झेलती कश्मीरी स्त्रियाँ सामाजिक उपेक्षा की भी शिकार थीं। उनके साथ होनेवाले दैहिक शोषण का गुनाहगार उन्हें ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बनाया जाने लगा था। स्त्रियों की इस स्थिति को 'ऐलान गली ज़िन्दा है' उपन्यास की कमली के माध्यम से

समझा जा सकता है। कमली का परिवार क़बायली हमले के दौरान बारामुला से भागकर ऐलान गली में रहने आया था। अरुंधती कमली के बारे में सतवन्त को बताते हुए कहती है, "पहले तो कबाइली ले गए। कहते हैं उनके सरदार को वह भा गई थी। उसका भाई श्यामा भी पुलिस में है न, वह सरदार के पास जाकर बोला, मेरी बहन कुँवारी है, इसे लाए हो तो निकाह करके बीवी बनाओ। अब सच बात तो परमात्मा जाने, पर कहते हैं, सरदार ने कमली से निकाह किया और दो महीने पत्नी की तरह उसके साथ रही, मुजफ्फराबाद में। पर लड़ाई का क्या भरोसा? वहीं लड़ाई में सरदार मारा गया और कमली रातोंरात भाग निकल भागी...कहते हैं उधर से इधर आते बॉर्डर पर जवानों के साथ रही। वे लोग क्या इसके भाई-बंद लगते थे?"[113] क़बायली हमले के दौरान कमली पहले क़बायलियों के पास फिर सेना के पास रही थी। अरुंधती के लिए यह सब झेलने के बाद किसी भी स्त्री का जीवित रहना पाप था। उसके अनुसार इस घटना के बाद कमली को अपने प्राण त्याग देने चाहिए थे क्योंकि वह 'अपवित्र' हो चुकी थी अत: उसके लिए मरना ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग था।

कमली की ही तरह 'कथा सतीसर' उपन्यास की तुलसी भी निरपराध होते हुए भी अपराधी बना दी जाती है। समाज की नज़रों में तुलसी अब उपेक्षित थी क्योंकि वह क़बायलियों के साथ रह चुकी थी। एक ऐसे समाज में जहाँ विवाह के लिए स्त्रियों का 'अस्पर्श्य' और 'पवित्र' होना अनिवार्य शर्त थी वहाँ तुलसी पूरे दो दिन तक क़बायलियों के साथ रह चुकी थी और अब वह अपने घर-समाज में सम्मान की नहीं बल्कि दया, सहानुभूति और उपेक्षा की पात्र थी। इस संबंध में रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, "कबाइली आक्रमण के समय अनेक अन्य लड़कियों की तरह बलात्कार की शिकार तुलसी 'सुच्ची नारी' नहीं 'ध्वस्त खंडहर' बन गई है। दया माया की प्रतिमूर्ति बन समाज अपनी 'उदारता' के चलते ऐसी लड़कियों को सड़क पर फेंक नहीं सकता, लेकिन ताने-शिकने कसते रहकर उसके कलंक को नासूर बनाना जरूर जानता है।"[114]

क़बायली हमला अथवा आतंकियों की शिकार कोई एक या दो स्त्री नहीं थी बल्कि यह साझी

पीड़ा थी। जिसे कई स्त्रियों ने भोगा था। फिर भी कश्मीरी समाज इन स्त्रियों की पीड़ा और स्थिति को समझे बिना उन्हें उपेक्षा और अपराधी के भाव से ही देखता था। 'कबायलियों के साथ रहकर आई है' जैसी पहचान देते हुए उनका समाज भले प्रत्यक्ष रूप से उनका बहिष्कार न करता हो, लेकिन अपने विचार-व्यवहार से इन स्त्रियों को उनकी उस सामाजिक हैसियत का एहसास अवश्य करा देता था जो समाज और परिवार के लिए केवल एक बोझ की थी। कश्मीरी स्त्रियाँ चाहे क़बायली हमलावरों की शिकार हो या दहशतगर्दों की उनकी स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं था। हालाकि इन दोनों घटनाओं में में लगभग चालीस वर्षों का अंतराल था फिर भी स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण और मानसिकता में विशेष अंतर नहीं आया था। 'दर्दपुर' उपन्यास में कश्मीरी पंडित समाज की उस मानसिकता का चित्रण हैं जहाँ आतंक से तबाह होने के बाद भी वह स्त्री के प्रति अपनी परंपरागत सोच से मुक्त नहीं हो पाता है। इस उपन्यास की पात्र नीरा का परिवार आतंक के माहौल में भी कश्मीर छोड़कर नहीं जाता बल्कि कश्मीर में ही रहता है। नीरा की बहन की शादी केवल इसलिए टूट जाती है क्योंकि लड़केवालों, जो ख़ुद कैम्प में रहते थे, का मानना था कि कश्मीर में रहनेवाली कोई भी स्त्री 'पाक-दामन' नहीं है चूँकि विवाह के लिए 'योग्य स्त्री' बनने हेतु परंपरागत समाज द्वारा एक ढाँचा निर्मित किया गया है जिसकी दीवारे 'पाक-दामन' होना, कम बोलना, केवल सुनना और सब सहना जैसी रूढ़ धारणाओं से बनी हैं। विवाह की निर्धारित कसौटी पर खरा उतरने के लिए स्त्रियों को इस पूर्वनिर्मित ढाँचे में 'फिट' होना पड़ता है। नीरा सुधा को बताती है कि "लड़के वालों ने कहा हम कश्मीर में रहते हैं- सो कश्मीर में कौन लड़की पाक-दामन बची है। मुसलमानों की लड़कियाँ पाक-दामन नहीं रहीं तो भट्टों की बात ही नहीं। भट्टों पर तो उन्हें वैसे ही नजर थी कि यहाँ रह रही लड़कियाँ मुसलमानों और आतंकवादियों की जूठन हैं...इसलिए रिश्ता टूट गया।"[115] वह परिवार जो स्वयं कश्मीर में हुई हिंसा और आतंक को झेल चुका था और उसके परिणामस्वरूप कश्मीर से विस्थापित होकर कैम्प में रहता था वह भी अपने ही समान प्रताड़ित मनुष्य को केवल इसलिए उपेक्षा और संदेह की निगाह से देखता है

क्योंकि लैंगिक आधार पर वह व्यक्ति स्त्री है। चूँकि वह स्त्री है तो विवाह के लिए उसकी देह का पवित्र होना आवश्यक है। निर्धारित पवित्रता की इस कसौटी पर स्वयं को खरा साबित करने की प्रक्रिया में स्त्री की आत्मा चाहे जितनी बार भी घायल हो जाए इससे किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता है।

हिंसा और कश्मीरी मुसलमान स्त्री-

कश्मीर में हिंसा और आतंक के परिणामस्वरूप कश्मीरी मुसलमान स्त्रियों का जीवन भी कम कठिन नही था। बलात्कार, गर्भपात, स्वतंत्रता का हनन और 'आधी विधवा' होने की पीड़ा इन स्त्रियों के हिस्से भी थी। जैसा कि 'कथा सतीसर' उपन्यास का हरीकृष्ण कहता है, "कोई नहीं बचती मास्टरजी! कलमा पढ़ने वालों को उन्होंने छोड़ा क्या? बी होम, शाहपुर में ही कितनी लड़कियों को उठा ले गए, कईयों को 'मुताअ' करके वापस भेज दिया, पेट में बच्चा डालकर।"[116] 'मुताअ' का अर्थ केवल कुछ दिनों के लिए किया जानेवाला निकाह होता है। 'मुताअ' के नाम पर दहशतगर्द इन स्त्रियों के साथ कुछ समय व्यतीत करते थे फिर उन्हें छोड़ देते थे। दहशतगर्दों द्वारा छोड़ी गई इन स्त्रियों की न कोई पहचान होती है और न समाज में ही इन्हें सम्मान मिलता है। जैसा कि उपन्यासों में चित्रित है कि दहशतगर्द जब किसी घर में पनाह लेते थे तो उस परिवार को उनकी भोजन एवं अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करने के साथ ही अपने घर की स्त्रियों को भी उनके पास भेजना पड़ता था। 'नौशीन' उपन्यास की पात्र डाक्टर हाजिरा के अस्पताल में एक स्त्री अपनी बेटी को लेकर आती है। जिसकी हालत इतनी खराब होती है कि हाजिरा बहुत मुश्किल से उसकी जान बचा पाती है। हाजिरा जब उस स्त्री से उसकी बेटी की हुई इस स्थिति का कारण पूछती है तो वह स्त्री उसे बताती है कि कुछ दिनों पहले उसके घर कुछ दहशतगर्द पनाह लेने आए थे। भोजन करने के बाद वे लोग उस परिवार से कहते हैं, "अपनी बेटी के हाथ से इलायची भिजवाओ। उन्हें न करने का मतलब तो आप समझती हैं। बेटी को ऊपर भेजा। सोचा था, बच्ची है इलायची देकर आ जायेगी। पर लड़की के बदले इस बदनसीब की

चीखें आनी शुरू हो गयीं। सब सीढ़ियों की तरफ देखने लगे। वहाँ उनका एक आदमी बंदूक ताने खड़ा था। मैं ऊपर जाने लगी तो उसने बंदूक मेरी तरफ़ तान दी और हँसने लगा।...रात बिताकर तड़के ही वो चले गये। मेरी बच्ची का हाल मत पूछो। ये ज़िन्दा लाश की तरह थी।"[117] इसके बाद उनमें से एक व्यक्ति हमेशा उनके घर उनकी बेटी के पास आने लगता है। वे चाहकर भी उसे आने से रोक नहीं सकते थे क्योंकि उनका बेटा भी उसी आतंकी समूह के पास था। दहशतगर्द उस लड़की के परिवार द्वारा बार-बार अनुरोध किए जाने पर भी उस लड़की से निकाह करने को तैयार नहीं होता है। लड़की के गर्भवती होने की ख़बर सुनने के बाद जब वह उससे मिलता है तो उसके बाद वह लड़की अपने घरवालों को खून से लथपथ बेहोश मिलती है। लड़की की माँ और चाची उसे किसी तरह अस्पताल लेकर आती हैं। लड़की की माँ पूरे रास्ते उसके मरने की दुआ करती है क्योंकि वह इस क्रूर यथार्थ से अवगत थी कि यदि उसकी बेटी इस बार बच भी जाती है तो उसके साथ दुबारा यही सब होगा। कश्मीर में हुई यह कोई एक घटना नहीं थी बल्कि 'कथा सतीसर' उपन्यास की कात्या के पास एक चौदह वर्ष की बच्ची नूर आती है जो गर्भवती थी। "वहशी दरिंदों ने सचमुच उसे चीर दिया था। उसे सर्जरी की जरूरत थी।"[118] दहशतगर्दों की शिकार इन अविवाहित लड़कियों की स्थिति यह थी कि वह उनके गर्भवती होने की खबर सुनते ही उन्हें छोड़ देते थे, क्योंकि उन्हें इन स्त्रियों से कोई भावनात्मक लगाव नहीं था बल्कि वह उनके लिए केवल वासनापूर्ति का माध्यम भर थी। अत: वह उनके साथ संबंध तो बनाना चाहते थे लेकिन उनकी या बच्चे की कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे। वहीं इन स्त्रियों का परिवार भी उनके बच्चों को नहीं अपनाना चाहता था। जिसका एक कारण तो सामाजिक अपमान का भय था और दूसरा कारण यह था कि आखिर वह कितने बच्चे पाले? क्योंकि यह कोई एक बार या किसी एक के साथ हुई घटना तो थी नहीं। इन परिस्थितियों ने अवैध गर्भपात की संख्या को बढ़ा दिया था। जैसा कि 'दर्दपुर' उपन्यास में चित्रित है, "नदी में रोज एक से लेकर तीन तक गाँव से नवजात शिशु बहकर गुजरते हैं। क्योंकि कुछ स्त्रियों का गर्भपात असम्भव की स्थिति तक पहुँच चुका

होता है...अतः जन्म देकर शिशु को नदी में बहा देते हैं। गर्भपात तो सैकड़ों होते रहते हैं। माता-पिता परदे में गर्भवती दुहिताओं को क्लिनिक में ले आते हैं। दुआ देते हैं...डॉक्टर साहब, खुदा तुम्हें वह दें, यह दें...क्या-क्या न दें...तुमने इज्जत रख ली, लड़की को आजाद किया। अगले कुछ महीनों में डॉक्टर देखता है कि वही माता-पिता उसी लड़की को गर्भपात के लिए फिर ले आते हैं...कि गर्भ फिर ठहर गया।"[119] स्थिति यह हो गई थी कि लोग अपने घर की स्त्रियों के स्वास्थ और जान के जोखिम को नज़रअंदाज करते हुए किसी भी स्थिति में गर्भपात चाहते थे।

उपन्यासों में चित्रित है कि यह स्त्रियाँ केवल बलात्कार की ही शिकार नहीं थी बल्कि उनपर तमाम बंदिशें लगाकर उनकी स्वतंत्रता का हनन भी किया गया था और उन्हें बुर्का पहनने, साइकिल न चलाने, मेकअप न करने जैसी तमाम हिदायते दी जाती थी। 'पाषाण युग' उपन्यास में 'कॉलेज' में बदलती परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं- "कॉलेज का पूरा नक्शा ही बदल गया था। लड़कियों के साईकिल स्टैण्ड की जगह सुनसान थी। लिबास बदल गए थे। साड़ियों की जगह ढीली सलवार-कमीज़ और मलमल के चादरों ने ले रखी थी। बुर्कों की तादाद में खासा इज़ाफ़ा हो गया था।"[120] इन पाबंदियों के कारण शिक्षण संस्थानों में स्त्रियों की संख्या घटने लगी थी क्योंकि ऐसा माहौल बन गया था कि कोई भी स्त्री घर से बाहर निकलने में सुरक्षित महसूस नहीं करती थी। 'शिगाफ़' उपन्यास की यास्मीन पढ़ना चाहती थी, लेकिन उसके अम्मी-अब्बू ने उसे परीक्षा नहीं देने देते क्योंकि उन दिनों दहशतगर्दों द्वारा लड़कियों को उठा ले जाने की घटनाएँ आम हो गई थी। यास्मीन के अम्मी-अब्बू को उसकी पढ़ाई से ज्यादा उसकी जान और इज्ज़त की चिंता थी। यह चिंता स्वाभाविक भी थी क्योंकि जो लोग भयभीत नहीं थे अथवा दहशतगर्दों के आदेशों-निर्देशों को नज़रअंदाज करते थे, उन्हें दहशतगर्दों द्वारा सज़ा भी दी जाती थी। जैसा कि 'पाषाण युग' और 'कथा सतीसर' उपन्यास में देखा जा सकता है। 'पाषाण युग' उपन्यास की अंजलि जब 'कॉलेज' जाती है तो उसे वहाँ भीड़ जमा दिखती है। पूछे जाने पर उसे पता चलता है कि 'कॉलेज' आते समय एक लड़की के चेहरे और कपड़ों पर हरा रंग केवल इसलिए फेंक दिया

गया था क्योंकि उसने बुर्का नहीं पहना था। रंग से कपड़े और चेहरा ख़राब किए जाने पर उसे ताने भी सुनने पड़ते हैं। एक आदमी दहशतगर्दों के इस कृत को सही ठहराते हुए उसी लड़की को दोषी बताता है, क्योंकि वह बेपर्दा थी। वह लड़की उस आदमी की इस बात को चुपचाप नहीं सुनती है बल्कि उसका विरोध भी करती है और उस आदमी से कहती है, "मर्द हो किसी पराई लड़की को देखो तो आंखें झुका कर चलो। पर्दा और शर्म इसे कहते हैं।"[121] लेकिन इस लड़की द्वारा किए जानेवाले इस विरोध का कई बार भयंकर परिणाम भी इन स्त्रियों को भुगतना पड़ता था। जैसा कि 'कथा सतीसर' उपन्यास की नसीम के साथ हुआ था। नसीम 'विमेंस वेलफेयर सेंटर' में काम करती थी। दहशतगर्दों द्वारा उसे पर्दे में रहने और साइकिल न चलाने जैसे निर्देश कई बार मिले चुके थे क्योंकि उनके अनुसार यह कार्य, स्त्रियों के संबंध में, गैर इस्लामिक थे। उनके इन निर्देशों को नसीम ने नज़रअंदाज़ कर दिया था, क्योंकि उसकी नज़रों में वह ऐसा कोई काम नहीं कर रही थी जो किसी की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचानेवाला हो। नसीम के इस कदम को दहशतगर्दों द्वारा उसका दुस्साहस माना जाता है और इसकी सज़ा के रूप में वह उसका अपहरण कर लेते हैं। नसीम का परिवार उसे खोजने की बहुत कोशिश करता है लेकिन कश्मीर में आतंकी संगठनों की संख्या इतनी अधिक हो गई थी कि उनके लिए यह पता लगाना लगभग असंभव था कि नसीम उनमें से किसके पास है। दहशतगर्दों ने नसीम को हर तरह की यातनाएं दी। उसे जानवरों के कमरे में बाँधकर रखा गया, विरोध करने पर गर्म सलाखों से जलाया गया और उन अपहरणकर्ताओं में से एक ने उसके साथ 'मुताअ' भी किया था। हालाँकि 'मुताअ' के बाद भी नसीम की स्थिति में कोई अंतर नहीं आया था। इसी दौरान नसीम एक बच्ची को जन्म देती है और बच्ची के रोने की आवाज़ से दहशतगर्दों को पकड़े जाने का भय था अत: वह उस बच्ची को मार देना चाहते थे लेकिन "नसीम ने बच्ची का मुँह बाँध दिया, "नहीं, वह आवाज़ नहीं निकालेगी।" उसने उन्हें यकीन दिलाया। बच्ची कुछ देर ऊँ-ऊँ गुँगुआई, फिर छटपटाकर चुप्प हो गई। वे लोग हट गए, तो नसीम ने बच्ची का मुँह खोल दिया। बच्ची बेआवाज़ उसे देखने लगी।

कैसी माँ हो?"[122] नसीम जब किसी तरह उनसे बचकर अपने घर लौटती है तो उसका लौटना उसके परिवारवालों के लिए प्रसन्नता नहीं बल्कि चिंता और अपमान का विषय था। चिंता थी दहशतगर्दों के दुबारा आ जाने की और अपमान था कि वह विवाह से पूर्व ही एक बच्चे की माँ बन चुकी थी। ऐसी स्थिति में नसीम के घरवाले चाहते थे कि वह अपनी बच्ची को किसी अनाथालय में छोड़ दे, लेकिन नसीम उनकी इस बात का विरोध करती है। नसीम के इस विरोध के संबंध में रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, "बलात्कार जुल्म हो या दुर्घटना, उसकी वजह से जन्मी संतान अवैध नहीं ठहराई जा सकती। पिता के नाम की वैध मुहर मां और उसकी कोख में नौ माह पल-प्रतिपल पलते बच्चे के आंतरिक संबंध को अनचीन्हा कर देना है जिसे सिर्फ रक्त और मज्जा ने नहीं बनाया, बुना है आज की धड़कनों और कल के सपनों ने एक साथ गुंथ कर।"[123] दरअसल नसीम का यह कदम मातृत्व की पहचान के लिए किया गया वह संघर्ष है जहाँ कोई बच्चा केवल इसलिए अवैध नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके पास पिता की पहचान नहीं है। यह मानना उस माँ की पहचान को ख़ारिज करना है जो उसे नौ माह गर्भ अपने में रखती है।

'सूखते चिनार' उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कश्मीरी मुसलमान स्त्रियाँ दहशतगर्दों के साथ-साथ पुलिस और सेना द्वारा भी शोषित थी। इस उपन्यास की रूबीना न तब सुरक्षित थी जब उसके घर में पुलिस का पहरा था और न तब सुरक्षित थी जब आतंकी उसके घर में पनाह लेने आए थे। रूबीना का भाई ज़मील जब दहशतगर्द बन जाता है तब पुलिस जब चाहे "उसके घर आ धमकती। वहाँ अड्डा मारती। सिगरेट के छल्ले उड़ाती। उसकी जवान बहन रूबीना को घूरती। उससे गन्दे-गन्दे मज़ाक करती। भद्दे इशारे करती। उसके सामने माँ-बहन की ऐसी अश्लील और भद्दी गलियाँ निकालती कि ज़मील के अब्बू रो पड़ते"[124] यहाँ आतंकी तो ज़मील बना था लेकिन सज़ा उसके परिवार को मिलती है। जिसमें रूबीना को मिलनेवाली सज़ा दुहरी थी- एक आतंकी की बहन होने के नाते और दूसरी स्त्री होने के नाते। ज़मील को पकड़ने की सेना और पुलिस की साझी मुहिम में रूबीना जो अपमान सहती है उसे देखते-समझते हुए भी उसके घरवाले

कुछ नहीं कर पाते हैं, क्योंकि अपने ऊपर होनेवाले जुल्म के प्रति आवाज़ उठाने का न तो उनमें सामर्थ्य था और न ही उनकी उतनी पहुँच थी। रूबीना का भाई जब सेना द्वारा मार दिया जाता है और उसके घर से सेना और पुलिस का पहरा हट जाता है तब उसका घर आतंकियों के लिए एक सुरक्षित पनाहगार बन जाता है। रूबीना का छोटा भाई पैसों के लालच में दहशतगर्दों को अपने घर में पनाह देता है और वे लोग रूबीना का बलात्कार करते हैं। जैसा कि वह अपने पत्र में लिखती है, "मैं पढ़ने में ध्यान लगाने लगी कि तभी किसी ने पीछे से मेरे मुँह में रुमाल ठूँस दिया। मुझे चार बलिष्ठ हाथों ने पकड़ा और घसीटते हुए मुझे नीचे तहख़ाने ले गये और वहाँ बारी-बारी से...।"[125] रूबीना एक ओर जहाँ पुलिस के अभद्र व्यवहार को झेलती है वहीं दूसरी ओर घर में पनाह लिए आतंकियों द्वारा शारीरिक यातना की शिकार भी होती है। जिसके बाद वह गर्भवती हो जाती है और आतंकियों को पनाह देने के आरोप में उसे जेल भेज दिया जाता है। यहाँ रूबीना शोषित होने के बावजूद भी अपराधी बना दी जाती है। न उसके भाई ने आतंकी बनने से पहले उसकी सहमती ली थी, न उसके दूसरे भाई ने आतंकियों को घर में पनाह देने के पहले उससे सहमती ली थी और न दहशतगर्दों ने उसके साथ संबंध बनाने के पहले उससे सहमती ली थी लेकिन इस सबके बावजूद सज़ा रूबीना को ही मिलती है। दहशतगर्द और सेना के बीच पिसती रूबीना जैसी स्त्रियों की कहीं कोई सुनवाई नहीं है।

उपन्यासों में दहशतगर्दों द्वारा स्त्रियों के शोषण का ब्यौरा तो विस्तार से दिया गया है लेकिन सेना एवं पुलिस द्वारा होनेवाले स्त्रियों के शोषण का चित्रण अपेक्षाकृत संक्षिप्त और सांकेतिक रूप में है। 'एशिया वॉच और फिजिशियंस फॉर ह्यूमन राइट्स' की रिपोर्ट 'रेप इन कश्मीर: अ क्राइम ऑफ वार' (वॉल्यूम 5, ईशु 9) में उद्धरित मामलों को देखें तो कहा जा सकता है कि उनमें सेना एवं पुलिस द्वारा किए जानेवाले स्त्रियों के शोषण की कई घटनाओं का उल्लेख मिलता है। 'एक कोई था कहीं-नहीं सा' उपन्यास में भी ह्यूमन राइट्स का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "अब ह्यूमन राइट्स वालों की रिपोर्टें साफ़-साफ़ बताती हैं कि वहाँ की लड़कियों-स्त्रियों पर सेना के

जवान भी शारीरिक क़हर बरसा रहे हैं।"[126]

कश्मीर में आए दिन होनेवाली दहशतगर्दों और सेना की मुठभेड़ के कारण वहाँ विधवाओं की संख्या में वृद्धि हुई हैं। इसमें से कई स्त्रियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें 'आधी विधवा' की पहचान मिली है, "The unresolved conflict has resulted in untold miseries, including the misfortune that befell the women whose husbands have disappeared without a trace. Since their husbands are not con- firmed dead, they are officially not considered widows. Instead, the locals see them as "half-widows"."[127] अर्थात् यह पहचान उन स्त्रियों के लिए थी जिनके पति गुमशुदा थे और जो यह नहीं जानती थी की वे जीवित भी हैं या नहीं।

'शिगाफ़' उपन्यास में बढ़ती विधवाओं की इस संख्या पर चिंता व्यक्त की गई है। इस उपन्यास की पात्र प्रोफेसर आयशा, जो कश्मीर विश्वविद्यालय में व्याख्याता है, कहती है, "हमारा हर दिन नई समस्याओं को जन्म देते हुए उगता है कश्मीर में। हर दिन विधवाओं की एक नई फसल तैयार हो जाती है। फौज और उग्रवादियों ने मिल-जुलकर ग्याहर हजार जवान विधवाओं की फसल तैयार की है, जिसे न समाज से कोई आसरा है न सरकार से। वे अपने होंठ सिये घातक मानसिक रोगों तथा हताशाओं का शिकार होती जा रही हैं।"[128] विधवाओं की बढ़ती संख्या और उनकी स्थिति अपने आप में त्रासद है। जब कोई पुरुष मरता या गायब होता है तो उसके पीछे उसका पूरा परिवार हर दिन कई मौते मरता है। इन स्त्रियों के पति न वापस घर लौटते हैं और न ही उनकी मौत की खबर ही इन्हें मिलती है। अत: दु:ख और उम्मीद के मिले-जुले भाव में उलझा एक पूरा जीवन बर्बाद हो जाता है। इनके हिस्से केवल लंबी प्रतीक्षा और ढेर सारी कठिनाइयाँ हैं। वे स्त्रियाँ जो आर्थिक रूप से केवल अपने पतियों पर निर्भर हैं, उनके गायब होने के बाद अपने ससुराल या मायके पर निर्भर होने को मजबूर हो जाती हैं। वे इस उम्मीद में दुबारा विवाह भी नहीं कर सकती हैं कि कहीं उनके पति लौटकर न आ जाएँ। इसके साथ ही "Economic relief such as

ration cards or transfer of husband's property or bank accounts are also difficult to get as these processes require death certificate which of course half widows generally do not have as their husbands are officially not recognised as deceased."[129] अर्थात् 'आधी विधवा' की पहचान लिए इन स्त्रियों को आर्थिक सहायता पाने या अपने पति की संपति को पाने के लिए भी लंबा संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि इनके पति अधिकारिक रूप से मृत नहीं थे।

आर्थिक संघर्ष-

उपन्यासों में कश्मीरी स्त्रियों के शारीरिक शोषण के साथ ही उनके आर्थिक संकट का भी चित्रण किया गया है। 'शिगाफ़' उपन्यास की नसीम अमिता को स्त्रियों की आर्थिक स्थिति से अवगत कराते हुए कहती है, "महंगाई इतनी की बस...नौकरी नहीं मिलती। उस पर परदेदारी अलग से और डर...ऐसा कि औरतें सोए बिना महीनों से रह रही है कि आँख सुर्ख हो जाती है मगर नींद...गुम"[130] कश्मीर में आए दिन होनेवाली हिंसा ने एक तो रोजगार को पहले ही प्रभावित किया था और दूसरी ओर स्त्रियों के लिए बाहर निकलकर काम करना और अधिक मुश्किल था। दहशतगर्दों द्वारा स्त्रियों का नौकरी करना इस्लाम विरोधी बताया जाने लगा था, "बंदूकधारियों की एक पार्टी ने अख़बार में औरतों को पढ़ाई-लिखाई और नौकरी छोड़कर घर का काम संभालने की सलाह दी थी। औरतों के नौकरी करने को इस्लाम विरोधी बताया था।"[131] ऐसी स्थिति में स्त्रियों के पास आर्थिक दृष्टि से अपने घर के पुरुषों पर निर्भर रहने के अलावा कोई और विकल्प नहीं था। नसीम जैसी स्त्रियाँ जो अपने पति से अलग हो गई थीं और जिन्हें अपने माता-पिता का भी सहारा नहीं था उनके लिए कश्मीर में रहना और अधिक कठिन था। अत: कश्मीर में बनते इस असुरक्षित माहौल और कोई बेहतर काम न मिलने पाने की स्थिति में नसीम अपने बेटे के साथ दिल्ली चली जाती है, लेकिन वहाँ भी वह अपनी आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने के लिए जूझती रहती है। नसीम अमिता से कहती है, "जब मुझे लगा कि मुझे सिर्फ अपने बेटे के

बारे में सोचना है, इतनी ठोकरें खा ही चुकी हूँ...तब मैंने सोच लिया कि मैं अब हर तरह के मर्द को निभा ले जाऊँगी...तो बाजी, मैंने उसी मर्द से निकाह कर लिया जिसकी दुकान में मैं सेल्सगर्ल का काम करती थी। कम-से-कम कश्मीरी तो है। इसके तीन लड़कियाँ हैं। सच पूछो तो, मेरी औकात अब भी वही है...और तनख्वाह भी बस ज़रा ही बढ़ी है।"[132] नसीम अपने और अपने बेटे के बेहतर भविष्य के लिए कश्मीर छोड़ती है, दुबारा विवाह करती है लेकिन इन सबके बावजूद भी न ही उसकी आर्थिक स्थिति ही बेहतर हो पाती है और न ही उसे पत्नी होने का पूरा सम्मान ही मिलता है। एक सुरक्षित भविष्य की तलाश में कश्मीर छोड़ने वाली नसीम की स्थिति अंततः वही रह जाती है, बस इस अंतर के साथ की यहाँ उसे हर पल मौत का भय नहीं था। नसीम जिस तरह से दिल्ली में बसने के लिए संघर्ष कर रही थी वैसा ही संघर्ष इसी उपन्यास की अमिता भी स्पेन में स्वयं को पुन: स्थापित करने के लिए कर रही थी। अमिता स्पेन में ही रहना चाहती थी, भारत नहीं लौटना चाहती थी। वहाँ रहने के लिए उसे पैसों की ज़रूरत थी लेकिन वहाँ काम मिलना आसान नहीं था। जैसा कि वह अपने ब्लॉग में लिखती है, "मुझे चिन्ता है, जल्दी ही अगर कोई नया कोर्स और नौकरी नहीं पकड़ी तो लौटना होगा।...फ़िलहाल मैं यहीं नौकरी करने की फ़िक्र में हूँ। मेरे दोस्त कहते हैं, 'सैनसबैस्टियन में तुम्हें सेल्सगर्ल या पिज़्ज़ा डिलीवरी की नौकरी के अलावा कुछ नहीं मिलने का।' "[133] इन उपन्यासों उन स्त्रियों के संघर्ष के साथ ही जो कश्मीर के बाहर बसना चाहती हैं उन स्त्रियों के संघर्ष को भी शामिल किया गया है जो कश्मीर में रहते हुए आत्मनिर्भर बनना चाहती हैं। 'पाषाण युग' उपन्यास की लता सप्रू, जो 'कॉलेज' में पढ़ाती थी, के माध्यम से कामकाजी स्त्री के उस संघर्ष देखा जा सकता है जिसके लिए हिंसा और भय के माहौल में बाहर निकलना आसान नहीं था। लता सप्रू 'कॉलेज' में आने के बाद अपने माथे पर बिंदी लगाया करती थी। कारण पूछे जाने पर वह अंजलि को बताती है कि रास्ते में दहशतगर्द बिंदी लगनेवाली स्त्रियों के साथ अभद्र व्यवहार करते थे। लता सप्रू और उनके जैसी कई स्त्रियों के लिए नौकरी उनकी आर्थिक आवश्यकता थी अत: इन परिस्थितियों से

भयभीत होकर नौकरी छोड़ने का विकल्प भी संभवत: उनके पास नहीं था। आए दिन होनेवाली इन कठिनाइयों से जूझते हुए नौकरी करना उनकी मज़बूरी थी। इन कश्मीरी स्त्रियों की स्थिति और इनके द्वारा किया जानेवाला आर्थिक संघर्ष इस बात का सबूत है कि यह स्त्रियाँ केवल एक सम्मान और सुकून से भरी ज़िन्दगी चाहती हैं, "सियासी दांवपेच, युद्ध, आतंकवाद से उनका क्या वास्ता? बेघर चाहती हैं को मात्र दो वक्त के गुजारे लायक रोजगार और सुरक्षा।"[134] कश्मीर के भीतर और कश्मीर से बाहर सम्मान और सुरक्षा भरी ज़िन्दगी तलाशती इन स्त्रियों की इस तलाश का मार्मिक चित्रण इन उपन्यासों में मिलता है।

कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में कश्मीर की आधी आबादी की पूरी पीड़ा और त्रासदी को दिखाया गया है। विस्थापन और आतंक से अगर कश्मीरी पंडित स्त्रियाँ आहत हुई हैं तो वहीं आधी माँ और आधी विधवा होने का दंश कश्मीरी मुसलमान स्त्रियों ने भोगा है, भोग रही हैं। मन का खालीपन दोनों जगह है, इनका दुख साझा है। 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की शबरी की आख़िरी इच्छा बस इतनी ही थी की वह अपने घर लौट पाए वहीं 'कथा सतीसर' उपन्यास की अजीज़ा अपने बेटे असलम के जीवित या मृत होने की खबर पाने के लिए हर दिन मरती है। एक ओर वे हैं जो कश्मीर छोड़ने को विवश की गई थीं, दूसरी ओर वे हैं जिन्होंने कश्मीर में रहते हुए बहुत कुछ झेला है। ये कश्मीरी स्त्रियाँ केवल पुरुषों की राजनीति, हिंसा और वासना का परिणाम ही नहीं भोगती बल्कि उस निर्णय का विश्लेषण भी करती हैं। इस विश्लेषण हेतु उनके पास उसकी अपनी कसौटी है, विचार है, तर्क है, आधार है, "पुरुष शस्त्र उठाता है। बन्दूक उठाता है। सृष्टि से मनमानी करता है। मरता है मारता है। वह नायक है। स्त्री मात्र देह है। और कुछ भी नहीं है स्त्री। स्त्रियो! सलाम।... हम पुरुष के निर्णयों की भोक्ता हैं। हम धरती हैं, धरती रक्तिम है..."[135]

हिंसा और आतंकवाद से पीड़ित कश्मीरी स्त्रियाँ अमन चाहती हैं, एसिड, बलात्कार एवं मौत के भय से आज़ादी चाहती हैं, गरीबी-अशिक्षा-बदहाली से मुक्त कश्मीर चाहती हैं, एक ऐसा कश्मीर चाहती हैं जहाँ वे देह मात्र न समझी जाए, लेकिन उनका यह इंतज़ार ख़त्म होने की जगह

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होता जा रहा है। समाज में भले इन स्त्रियों का स्थान दोयम दर्जे का हो लेकिन आतंक और स्त्री-विरोधी सोच को झेलने हेतु इन्हें पहली पंक्ति में खड़ा कर दिया जाता है। अधिकार और सम्मान से वंचित स्त्रियाँ अभिव्यक्ति के लिहाज से जहाँ सबसे पीछे रखी जाती हैं वहीं अन्याय-अत्याचार सहने में सबसे आगे कर दी जाती हैं। इन स्त्रियों ने भी एक सामान्य जीवन की कल्पना की होगी, कुछ बनने की चाह रखी होगी, एक बेहतर भविष्य के सपने देखे होंगे, लेकिन वे सिर्फ स्त्री होने के नाते घर-बाहर हर जगह शोषित हैं। इन उपन्यासों में स्त्री-जीवन की इसी त्रासदी, पीड़ा, विरोध और संघर्ष को दर्ज किया गया है। इन उपन्यासों में आई स्त्री पात्र केवल स्त्रियों के ऊपर हुए जुल्मों और शोषण को बताने भर के लिए ही नहीं आई हैं, बल्कि इनके माध्यम से स्त्री-वजूद से जुड़े प्रश्नों को भी उठाया गया है। उनके उस पक्ष को भी सामने रखा गया है जहाँ वे अपने और अपनों के लिए संघर्ष करती हैं। केवल विरोध सहती नहीं हैं बल्कि विरोध करती भी हैं।

vi. **आर्थिक संकट:**

कश्मीर के हिंसक माहौल ने कश्मीर की आर्थिक स्थिति को सबसे अधिक प्रभावित किया है। एक आम कश्मीरी जिसकी चिंता के केंद्र में अपने जीवन की सामान्य जरूरतों को पूरा करना है वह 'कश्मीर की राजनीति' के केंद्र में होकर भी हाशिये पर ही है। कश्मीर के भू-भाग पर अधिकार की लड़ाई में सबसे अधिक उपेक्षित आम कश्मीरी ही हैं।

धर्म को आधार बनाकर हिंसा और भय फैलानेवालों द्वारा कश्मीरियों का आर्थिक शोषण भी किया जाता रहा है। उपन्यासों में चित्रित है कि किस प्रकार दहशतगर्द अलग-अलग कारणों से अथवा दबाव बनाकर आमजन से पैसे मांगते हैं। ऐसा भी नहीं है कि दहशतगर्दों का कोई एक समूह हो जिसे कुछ पैसे दे दिए जाए, बल्कि उनके भी कई समूह हैं, सबकी अलग-अलग मांगे हैं। 'नौशीन' उपन्यास का इम्तियाज़ हसीना को इस स्थिति से अवगत कराते हुए कहता है, "हमारे

घर भी मिलिटेंट्स के आदमी पैसे लेने आते हैं। अब्बा जी उन्हें पैसे देकर चलता कर देते हैं। अब तो इतनी शाखाएँ हो गयी हैं कि ये पता ही नहीं चलता, कौन असली है कौन नकली। पर पूछने की हिम्मत किसी में नहीं है। उनके पास हमेशा बंदूके-पिस्टल तैयार रहते हैं।...हमारा बिज़नेस तो वहाँ ठप है। अगर मुल्क से बाहर सामान न भेजें तो सर्दियों में काँगड़ी भी गर्म न हो।"[136] दहशतगर्दों द्वारा मांगी गई रकम उन्हें देना अनिवार्य था। आर्थिक स्थिति चाहे जैसी भी हो लेकिन उन्हें मना नहीं किया जा सकता है। मना करने का सीधा अर्थ है- मौत।

कश्मीर में बढ़ती आतंकी घटनाओं का असर केवल पंडितों पर ही नहीं बल्कि मुसलमानों पर भी पड़ा है। पंडितों को डराने के लिए फैलाई जा रही दहशत ने कश्मीरी मुसलमानों के रोजगार को भी बहुत अधिक प्रभावित किया है। जैसा कि राम पुनयानी लिखते हैं, "पर्यटन कश्मीरी लोगों की आय का प्रमुख साधन है। उस पर इस माहौल का बेहद बुरा असर पड़ा है। इसलिए यहाँ की जनता राजनीतिक तकलीफ के साथ-साथ आर्थिक परेशानी भी उठा रही है।"[137] 'कश्मीर टूरिज्म डिपार्टमेंट' की एक रिपोर्ट के अनुसार-

Figure. 1. 1 Regional Tourist Arrivals in Jammu and Kashmir from 1975-2019

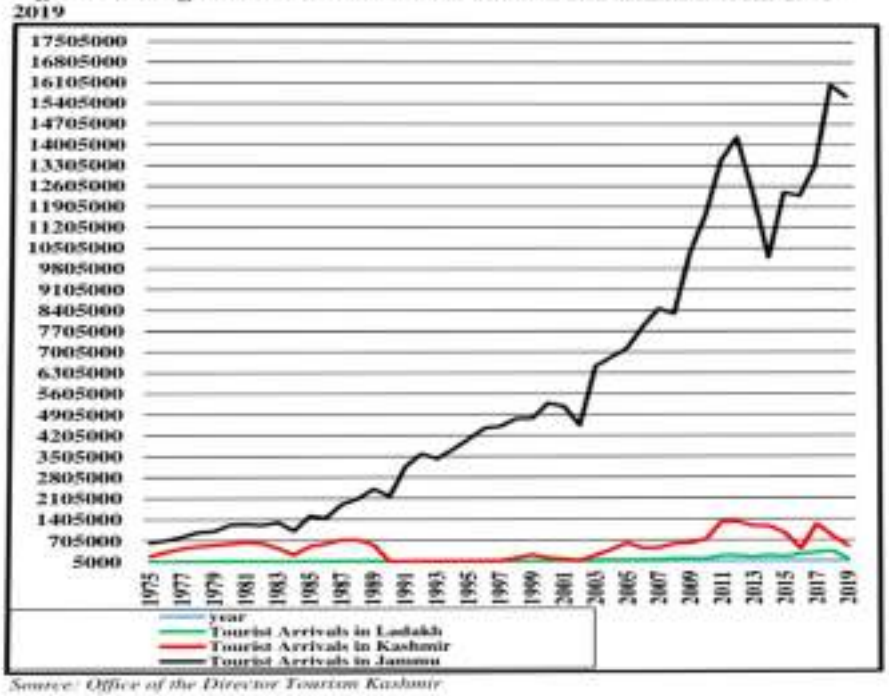

Source: Office of the Director Tourism Kashmir

इस रिपोर्ट में देखा जा सकता है कि सन् 1975-1987 तक कश्मीर में पर्यटकों की संख्या लगभग सात लाख पचास हज़ार के आसपास थी, वहीं सन् 1989-1997 में यह घटकर संख्या 5000 के लगभग हो गई थी। इस रिपोर्ट में प्रस्तुत आंकड़ों में यह देखा जा सकता है कि आतंकवाद और हिंसा ने कश्मीर के पर्यटन के व्यवसाय को बहुत अधिक नुकसान पहुँचाया है। जिन वर्षों में पर्यटकों की संख्या सबसे कम है कश्मीर में यह वह समय था जब हिंसक घटनाएं अपने चरम पर थी। कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में भी पर्यटकों की घटती संख्या के कारण आर्थिक परेशानी झेलते कश्मीरियों की स्थिति का चित्रण किया है। 'नौशीन' उपन्यास के पात्र फ़रहाद के घर का आर्थिक आधार एकमात्र 'हाउसबोट' ही थे। फ़रहाद के पिता अपने हाउसबोट को देखकर हमेशा कहा करते थे कि 'विजिटर जिंदाबाद।' लेकिन जब कश्मीर में हिंसक घटनाओं की बढ़ोतरी होने लगती है तब से उनका पूरा समय 'विजिटर्स' की प्रतीक्षा में ही गुजरने लगता है। अपने 'हाउसबोट' को देखकर उनकी आँखों में ख़ुशी के स्थान पर उदासी और दहशत उभरने लगती है। उन्हें हमेशा यह भय रहता है कि कहीं कोई दहशतगर्द उनके 'हाउसबोट' में छुपकर न बैठा हो क्योंकि कश्मीर में 'हाउसबोट' आतंकियों के छुपने की सबसे सुविधाजनक जगह बनने लगी थी। अपने पिता की इस मन:स्थिति को बताते हुए फ़रहाद कहता है, "कोई ना कोई जाकर पाँचों हाउसबोटों की सफ़ाई कर आता है। हमेशा डर लगता है। अंदर कोई रह न रहा हो। या कभी कोई गोला न आकर पड़े। विज़िटरों के आने की तो कोई उम्मीद नहीं है।"[138] वह इस सच से भी वाकिफ था कि यदि कोई उसके 'हाउसबोट' में रह रहा हो तो भी वे कुछ नहीं कर सकते हैं। इस भय के कारण ही 'हाउसबोट' में पर्यटकों का आना भी कम हो जाता है क्योंकि पर्यटकों के'हाउसबोट' में मारे जाने की घटनाएं भी कश्मीर में घट चुकी थीं, जिसने न केवल 'हाउसबोट' के मालिकों में बल्कि पर्यटकों मन में भी दहशत उत्पन्न कर दिया था। ऐसे में 'हाउसबोट' के मालिकों के पास इंतजार करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। जिनका एकमात्र आर्थिक आधार पर्यटक हैं उनके लिए पर्यटकों का क्या महत्व है इसे 'कथा सतीसर' उपन्यास के अयूबा

के माध्यम से समझा जा सकता है। अयूबा के परिवार की खुशियों का एकमात्र केंद्र पर्यटक और बर्फ है और वहीं उनकी बेहतर भविष्य की उम्मीद भी है। अयूबा की ख़ुशी सिर्फ इतनी है कि "ज्यादा बर्फ, यानी ज्यादा विंटर स्पोट्स, ज्यादा टूरिस्ट, यानी ज्यादा आमदनी। यानी गरम-गरम भात और टुकड़ा भर गोश्त भी। नया पट्टू का फिरण और लांग बूट, यानी अल्लाहताला की सीधी नज़र!"[139] नन्दन और प्रेम जब अपने परिवार के साथ गुलमर्ग 'स्कीइंग' करने जाते हैं तो उस दौरान उनका सहायक अयूबा अपने फटे जूतें पहनकर उनके साथ दौड़ता है। उसके फटे जूतों से अंदर घुसती बर्फ उसके पैरों के जख्म को और अधिक तकलीफ देती है। बावजूद इसके वह अंदर घुसी बर्फ को बाहर निकालकर दुबारा अपने काम पर लग जाता है क्योंकि वह जानता है कि जितने अधिक पर्यटकों को 'स्कीइंग' कराएगा उसे उतने अधिक पैसे मिलेंगे। उन पैसों से उसकी कई दिनों से अधर में लटकी वे इच्छाएँ भी पूरी होंगी जो बहुत ही सामान्य हैं। जैसे, अच्छा खाना, नए जूते। इसी उम्मीद के कारण उसे वह बर्फ भी अच्छी लगती है जो उसके पैरों के लिए तकलीफदेह है क्योंकि वही उसके पूरे परिवार के लिए भोजन जुटाने का माध्यम है। अयुबा की यह स्थिति एक कश्मीरी मुसलमान की गरीबी का ही चित्रण नहीं करती बल्कि कई सारे प्रश्न भी उठाती है। वे प्रश्न जिनपर संवेदनशीलता से विचार करने की आवश्यकता है- क्या वर्चस्व की कामना, आज़ादी का नारा या किसी भूमि पर कब्ज़ा करना जीवन की इन सामान्य ज़रूरतों को पूरा करने से अधिक महत्वपूर्ण है? पर्यटकों के सहारे अपनी आजीविका चलाने वाले अयूबा के पास नए जूते खरीदने के भी पैसे नहीं है, उसे क्या भोजन मिलेगा यह पर्यटकों की संख्या ही तय करती है। ऐसे में पर्यटकों की घटती हर एक संख्या उसकी कई सारी आधारभूत आवश्यकतों को पूरा नहीं होने देती हैं। वहीं जेबा की स्थिति भी अयुबा से बेहतर नहीं है। वह कश्मीरी पंडितों के घर के छोटे-मोटे काम कर जैसे-तैसे अपना गुज़ारा करती है लेकिन बिगड़ते माहौल में कश्मीरियों के मन में एक-दूसरे के प्रति ऐसा संदेह उत्पन्न हो जाता है कि वह अब पंडितों के घर जाने में भी हिचकने लगती है और सोचती है, "आग लगे इस मरी सियासत को जो गरीब के मुँह से निवाला

भी छीन ले।"[140]

'नौशीन' उपन्यास में दिखाया गया है कि जिन कश्मीरियों का सामान कश्मीर से बाहर निर्यात होता है उनका गुज़ारा तो जैसे-तैसे हो जाता है, जैसा कि इम्तियाज़ कहता है, "जोड़ तोड़ करके जो विदेशों में सिरीनगर के बाहर माल जाता है, उसी की बदौलत चूल्हा जलता है।"[141] लेकिन वे लोग जिन्हें कश्मीर में ही रोज़गार करते हैं अथवा जो रोज़ कमाने-खाने वाले लोग हैं उनके पास वक्त बदलने के इंतज़ार के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। जैसा कि 'A Long Dream of Home' किताब में इंदु भूषण जुत्शी एक घटना का जिक्र करती हैं जहाँ वह अपनी खिड़की से देखती हैं कि एक सब्जी बेचने वाला अपनी बिना बिकी हुई सब्जियों के साथ घर लौटता है। क्रोध, चिंता और निराशा के मिले-जुले भाव से वह कहता है, "How shall I feed my family when I am not allowed to go to work? It is curfew day today. This movement will hurt the poor people like us. We will die of starvation. God should save us now."[142]

'ऐलान गली ज़िन्दा है' उपन्यास में आर्थिक संकट का दूसरा पक्ष दिखाया गया है जहाँ 'फ्री एजुकेशन' के तहत शिक्षितों की संख्या तो बढ़ गई थी लेकिन उसकी अनुपात उनके लिए में रोज़गार प्रदेश में उपलब्ध नहीं था। कश्मीरी युवक, विशेषकर कश्मीरी पंडित, कश्मीर में अपनी योग्यतानुसार कोई रोजगार न पाकर कश्मीर से बाहर जाने लगते हैं। यह स्थिति न केवल उनके बल्कि उनके घरवालों के लिए बहुत तकलीफदेह थी। इस उपन्यास के पात्र अमरनाथ अपने बेटे को उच्च शिक्षा के लिए कश्मीर से बाहर तो भेजते हैं लेकिन वह यह नहीं चाहते की उनका बेटा कश्मीर से बाहर बस जाए। इस स्थिति में उनका बेटा तेजा उनसे कहता है, "आप लड़कों को ऊँची शिक्षा देकर लायक बनाते हैं तो उन्हें कहीं अपनी काबिलियत दिखाने का मौका भी मिलना चाहिए। अपने शहर में अभी इतनी इण्डस्ट्री नहीं बनीं कि यहीं पर सभी को अच्छी नौकरियाँ मिलें।...हम लोग अब भी बनिहाल पार करने से परहेज करेंगे तो कुएँ के मेढक ही रहेंगे

न?"[143] लेकिन कश्मीर से बाहर जाकर अपनी योग्यता और क्षमतानुसार रोजगार पाने की आकांक्षा अवतारे और लोका जैसे युवकों के अंतर्द्वंद का कारण भी बनती है। अवतारे जब नौकरी के लिए मुंबई जाता है तो वहाँ एक अजीब-सा खालीपन उसे घेर लेता है। उसे ऐसा लगता है जैसे सब होते हुए भी कुछ नहीं है। अपनी जिस महत्वकांक्षा को पूरा करने के लिए उसने कश्मीर छोड़ा था वह पूरी होकर भी अधूरी है। जिस ऐलान गली से निकलने के लिए वह बचपन से छटपटा रहा था आज वहाँ से निकले के बाद भी उसे सुकून नहीं है। दिन भर की नौकरी के बाद जब वह रात को घर लौटता है तो अपना बिखरा कमरा देख उसे यही महसूस होता है जैसे कोई अपना बसा-बसाया घर छोड़कर चला गया हो। उसे बार-बार पछतावा होता है कि वह क्यों आया कश्मीर छोड़कर। वहीं बैंगलोर में 'इंजिनियर' के पद पर कार्यरत लोका उस शहर से आत्मीयत संबंध बना ही नहीं पाता। वह जब अपने पुराने दोस्तों से मिलता है तो उसे लगता है कि उसके वे दोस्त बहुत किस्मत वालें हैं जिन्हें रोजगार की तलाश में कश्मीर नहीं छोड़ना पड़ा। वे कम-से-कम बेगाने प्रदेश में स्वयं को अजनबी तो नहीं महसूस करते लेकिन शामू ऐसा नहीं सोचता। उसे वह जिन्दगी चाहिए जिससे लोका भागना चाहता है क्योंकि उसका मानना है कि कश्मीर में उसकी ज़िन्दगी थम-सी गई है। 'ऐलान गली' का अंधकार उसके भविष्य पर भी छाने लगा है। दरअसल जो कश्मीर से बाहर चले गए, वे अजनबियों के बीच अकेलापन भोगने को विवश हैं और लौटने को व्याकुल हैं तो कश्मीर में रह गए उन्हें कुछ न कर पाने की हीनता ने घेर लिया। दोनों ही अपनी परिस्थितियों से भागना चाहते हैं, उसे बदलना चाहते हैं। इस चाह के पीछे उनकी अपनी महत्त्वाकांक्षा तो है ही, साथ ही कश्मीर का बदलता माहौल और रोजगार का अभाव भी है। यह चिंता भी है कि यदि कश्मीर में रोजगार मिल भी जाए तो हर पल बढ़ती हिंसा, भेदभाव, मौत का भय और आतंकियों को दिए जानेवाले पैसों के बोझ से मुक्ति कहाँ।

'ऐलान गली ज़िन्दा है' उपन्यास में उठाई गई अपने प्रदेश से बाहर नौकरी करने की समस्या आम भारतीय प्रदेश की समस्या है। जिससे देश का एक बड़ा वर्ग जूझता है, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों

शामिल है। चूँकि कश्मीरी रचनाकारों ने अपने उपन्यासों में आम-जीवन की उन समस्याओं को भी उठाया है जो केवल कश्मीर तक ही सीमित नहीं है, अत: यही कारण है कि आर्थिक संघर्ष का यह पक्ष भी इस उपन्यास में चित्रित हुआ है।

एक आम कश्मीरी, चाहे वह किसी भी धर्म का हो, की पहली चिंता भूख है, रोजगार है। इस चिंता और समस्या से निपटने के बाद ही वह और कुछ सोच सकता है। जिसके दिन रोटी के लिए मेहनत करने और रात अगले दिन की चिंता करने में ही व्यतीत होता हो उसकी समस्या का समाधान आतंक अथवा धर्म के नाम पर की जानेवाली राजनीति कभी नहीं हो सकती। वह उसकी समस्या को बढ़ा अवश्य सकती है क्योंकि आतंक, हिंसक माहौल, कर्फ्यू और हड़ताल जैसी स्थितियों के कारण कश्मीर में न ही 'पर्यटक' जा सकते हैं, न ही कारखाने खुल सकते हैं और न ही अन्य कोई व्यापार हो सकता है। एक आम कश्मीरी को रोजगार चाहिए, वह माहौल चाहिए जहाँ वह बिना इस भय के अपने काम पर जाए कि शाम को घर ज़िन्दा लौट पाएगा भी या नहीं, जहाँ उसे अपनी मेहनत का हिस्सा किसी दहशतगर्द को न देना पड़े। जैसा कि 'इक़बाल' उपन्यास का बशीर कहता है "कश्मीरियों को कालीनों के बंद पड़े कारखानों में कारीगरों के पसीने की महक, उनकी आवाज, गहमागहमी चाहिए...। शलगम के खेतों की हरियाली लौटे, झीलों में सैलानियों से भरे शिकारे, बाज़ारों की जमघट, बुलबुलों की चहक, कहवे की खुश्बू, वाजवान का ज़ायका चाहिए।"[144]

vii. कश्मीर: अस्मिता का संकट:

अस्मिता का संबंध पहचान से है। हम कौन हैं, हमारी भाषा-संस्कृति क्या है, हमारी जड़ें कहाँ हैं- ये सभी हमारे पहचान का हिस्सा हैं। राजेन्द्र यादव के अनुसार, "अस्मिता अपनी निजी पहचान के साथ-साथ उस क्षेत्र और समाज की पहचान भी है जो हमारे संदर्भ तय करते हैं। यह संदर्भ जाति, वर्ग, नस्ल, क्षेत्र, भाषा, जेंडर, पेशे इत्यादि के रूप में हमारे अंतरंग (साइकी) के हिस्से

हैं।"[145]

अस्मिता का संबंध व्यक्ति की पहचान के साथ-साथ उसके आत्मसम्मान और अधिकार से भी है। जैसा कि नामवर सिंह कहते हैं, "अस्मिता का अर्थ है- अस्मिता का हक। अस्मिता दया नहीं चाहती, हक चाहती है।"[146] अर्थात किसी के अधिकार को, उसकी पहचान को मिटाने, जबरन छीनने या दबाने का प्रयास ही अस्मिता के लिए संकट उत्पन्न करता है।

कश्मीर के संदर्भ में अस्मिता का संकट उन सभी कश्मीरियों पर है जो कहीं-न-कहीं अपनी पहचान को लेकर संघर्षरत हैं- कभी अपनी पहचान पाने के लिए तो कभी अपनी पहचान पर होनेवाले संदेह से स्वयं को मुक्त करने के लिए। कश्मीर केद्रित उपन्यासों में इसी आधार पर कश्मीरी अस्मिता संबंधी प्रश्नों और पीड़ा को अभिव्यक्ति दी गई है। कश्मीर की समस्या केवल आतंक, राजनीति, हिंसा और विस्थापन की ही नहीं है बल्कि पहचान, सम्मान और अस्मिता की भी है। कश्मीरियों का विस्थापन उनके लिए केवल घर-ज़मीन-संपत्ति के छूटने भर का नहीं है बल्कि पहचान छूटने का भी है। जिसे लल्ली, शबरी, जया, अमिता जैसे कई पात्र ने भोगा है। जैसा कि बलराज पूरी लिखते हैं, "Migration had meant not only a possible loss of their homeland but a threat to their Kashmiri identity."[147]

कश्मीरियों की अस्मिता संबंधी संघर्ष को उपन्यासों के पात्रों के माध्यम से भी समझा जा सकता है, जहाँ सारी सुख-सुविधाओं और अपने परिवार के बीच रहते हुए भी 'कथा सतीसर' उपन्यास की विस्थापित लल्ली और 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की विस्थापित शबरी कभी प्रसन्न नहीं रह पाती। एक मौन लेकिन गहरी उदासी उनके अंतर्मन पर छाई रहती है। जिसके कारण हर सुविधा, हर ख़ुशी उनके लिए बेमानी है। शबरी और लल्ली के लिए उनकी पहचान पर लगता प्रश्नचिन्ह वह घाव है जो बाहरी तौर पर भले दिखाई नहीं देता, लेकिन उसकी टीस उनके हृदय में नासूर बन जाती है। घर लौटने की आख़िरी उम्मीद से वंचित हो जाने की पीड़ा से ये दोनों

स्त्री-पात्र अपने जीवन के अंतिम पड़ाव तक मुक्त नहीं हो पाती हैं। शबरी अपने दिल्ली के नए घर और परिवेश से कभी जुड़ नहीं पाती है क्योंकि वहाँ की भाषा-बोली, खान-पान,त्योहार और मौसम सब अलग हैं। शबरी के लिए दिल्ली में सब होते हुए भी कुछ नहीं था। उसे लगता था जैसे वह अजनबियों के बीच है। जहाँ कोई उसे नहीं पहचानता और वह किसी को नहीं पहचानती। लल्ली की स्थिति भी शबरी से अलग नहीं है। विस्थापन के बाद न्यू जर्सी में रहनेवाली लल्ली वर्तमान में रहना लगभग छोड़ देती है। उसके लिए उसका अतीत बेशक पीड़ादायक था, फिर भी उसमें जीना लल्ली के लिए वर्तमान की पीड़ा से कुछ हद तक मुक्त होने का माध्यम था।

विस्थापित या 'रिफ्यूजी' संबोधन केवल शब्द नहीं है बल्कि किसी के समूचे अस्तित्व को नकारे या बदले जाने की क्रूर प्रक्रिया है। जिसके तहत इसे सुननेवाला बेबस और मजबूर होता है क्योंकि अपने ही देश में अथवा प्रदेश में यह संबोधन कितना अपमानजनक हो सकता है इसका अंदाज़ा लगाना भी मुश्किल है। इन संबोधनों के पीछे पीड़ा और बेबसी की कई सारी अनदेखी-अनकही कहानियाँ होती हैं। 'ऐलान गली ज़िन्दा है' उपन्यास की शुभी का परिवार भी इस अपमानजनक संबोधन को सुनने के लिए विवश था। शुभी और उसका परिवार क़बायली हमले के दौरान अपनी जान बचाकर ऐलान गली में रहने आया था और वहाँ आते ही उनके नाम के साथ 'रिफ्यूजी' संबोधन जुड़ गया, जो तमाम सहानुभूतियों के बाद भी उनसे अलग नहीं हो पाता। धीरे-धीरे यही शब्द उनकी पहचान बन जाता है।

'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता विस्थापित कश्मीरी है और स्पेन में रहती है। वह वहाँ की भाषा भी अच्छी तरह जानती है लेकिन जब भी वह 'स्पेनिश' बोलती है तो सोचती है, "यहाँ मैं अजनबी हूँ। मै स्पेनिश बोलते हुए जीभ सही तरह से नहीं घुमाती हूँ। मेरा उच्चारण मेरे छूटे हुए देश की याद दिलाता है। मैं वो शब्द बोलती हूँ जो मेरे हैं ही नही; जिन्हें मेरी माँ ने कभी नहीं बोला होगा। उन शब्दों के सन्दर्भ मुझे किसी तरह भी कहीं से नहीं से नहीं जोड़ते। मुझे अपने सारे सन्दर्भ कटे-कटे नज़र आते हैं।...गैरभाषियों के बीच, अपनी भाषा का मोह कितना सालता

है...।"[148] स्पेन में रहने के कारण अमिता स्पेनिश सीखती है। हालाँकि सीखी गई हर नई भाषा व्यक्ति के ज्ञान और उसके बौद्धिक स्तर को समृद्ध करती है, संवाद और अध्ययन के नए-नए रास्ते खोजती है। अत: नई-नई भाषाओं को सीखना गलत नहीं है लेकिन अगर उन्हें सीखने का कारण जबरन हुआ विस्थापन हो तो वह चिंतनीय है। सीखी गई भाषाएं कई बार व्यक्ति-विस्थापन के इतिहास का भी उदाहरण होती हैं। अमिता जैसे विस्थापित जब दूसरे प्रदेशों में गए तो वहाँ की भाषा और आचार-व्यवहार, खान-पान उनके मूल क्षेत्र से भिन्न से भिन्न थी। अत: वहाँ के माहौल में स्वयं को ढालने हेतु उन्हें वहाँ की जीवन-संस्कृति को अपनाना पड़ा। साथ ही रोजगार और संवाद हेतु वहाँ की भाषा भी सीखनी पड़ी क्योंकि यही स्थानीयता की मांग होती है लेकिन सीखने की इस प्रक्रिया में अपनी मूल भाषा को भूलते जाना अमिता को आहत करता है।

अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपना घर यह सब एक व्यक्ति की पहचान होते हैं। यह तब और अधिक याद आते हैं जब व्यक्ति इनसे दूर हो, विशेषकर जबरन दूर किया गया हो। अमिता एक सेमीनार में भाग लेने जब श्रीनगर जाती है तो वहाँ अपने घर, स्कूल, बाज़ार एवं वे सभी स्थान जहाँ उसका बचपन व्यतीत हुआ था उसे उसकी उस स्थिति का एहसास कराते हैं, जहाँ वह केवल एक पर्यटक है। वह कश्मीर जो कभी अमिता घर हुआ करता था वहाँ वह पर्यटक की हैसियत से जाती है। वहाँ मिलनेवाला हर व्यक्ति उससे यही सवाल पूछता है कि वह कश्मीर कितने दिनों के लिए आई है, उसकी वापसी कब है? इन सवालों के उठने का कारण भी है। चूँकि कश्मीर जाकर अमिता अपने घर में नहीं 'गेस्टहाउस' में रहती है और 'गेस्ट हाउस' किसी का स्थाई निवास या पता नहीं हो सकता है। वहीं 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा भी इसी समस्या से जूझती है। दुबारा कश्मीर जाने पर जब वह 'गेस्टहाउस' जाती है तो उसका अंतर्मन बार-बार उससे यह सवाल करता है कि वह क्यों जा रही है 'गेस्ट हाउस' में? कश्मीर के रास्ते, घर, दृश्य आदि उसे इतने अपने लगते हैं कि वह बार-बार इस सत्य को भूल जाती है कि इन्हें अपना कहने के अधिकार से उसे वंचित कर दिया गया है। सुधा सोचती है, "वह गेस्ट हाउस क्यों जा रही है घर

क्यों नहीं जा रही है? और खुद को याद दिला रही थी कि क्या यह सच है कि इस घटना को हुए अर्सा होने को आ रहा है।"[149]

मातृभूमि से वंचित किए जाने की पीड़ा का मार्मिक चित्रण 'शिगाफ़' उपन्यास में भी देखने मिलता है। इस उपन्यास की पात्र अमिता कश्मीर में स्त्री-विषय पर होनेवाले 'सेमिनार' में शामिल होती है। 'सेमीनार' जब उससे उसके अनुभवों और विचारों को साझा करने के लिए कहा जाता है तो वह बस इतना ही कह पाती है कि वह भी कश्मीरी स्त्री होना चाहती थी, लेकिन उससे यह अधिकार जबरन छीन लिया गया। अब वह कहीं की भी नहीं है। न वह कश्मीर को अपना कह सकती है और न ही वे स्थान ही उसके हैं जहाँ वह विस्थापित होने के बाद जाती है। उसे इस बात का बहुत अफ़सोस है कि अब वह किसी को अपने घर का पता कश्मीर नहीं बता सकती। उसका पता पूरी दुनियाँ में कुछ भी हो सकता है लेकिन कश्मीर शायद कभी नहीं हो सकता। उसकी मातृभूमि उसके लिए अब केवल वह स्थान है जहाँ वह केवल पर्यटक बनकर ही जा सकती सकती। दुबारा वहाँ बसने की कल्पना उसके लिए लगभग असंभव है।

अमिता जैसे विस्थापित जिन्होंने लंबे संघर्ष के बाद लगभग सामान्य कहा जानेवाले जीवन अर्जित कर लिया हो, उन्हें भले ही कश्मीर में रहनेवाले मुसलमानों की तरह सेना और दहशतगर्दों का भय न हो, लेकिन अपनी उखड़ी जड़ों को दुबारा ज़माने के प्रयास में होनेवाली यातना से वे भी मुक्त नहीं है। वे चाहे जहाँ रहें, जिस स्थिति में रहें पहचान खोने का दंश उन्हें सुकून से नहीं रहने देता। इस उपन्यास की प्रोफ़ेसर आयशा अमिता से कहती है कि वह खुशकिस्मत है जो कश्मीर से बाहर चली गई, तो अमिता सोचती है, "बाहर जाकर हम बहुत आज़ाद हो गई हैं। अपनी जड़ों से आज़ाद, अपने सांस्कृतिक धागों से आज़ाद। भाषा से आज़ाद, हम कहीं भी, किसी भी संस्कृति में घुल जाने को आज़ाद हो गई हैं क्योंकि हमारे पास कोई चारा ही नहीं है। अपने वजूद से मोहभंग के बाद क्या बचता है! ये खुली जड़ोंवाला दरख़्त बामुश्किल चलना सिख गए हैं...मगर कहाँ जड़ पकड़ेंगे या धाराशाई हो जाएँगे, कोई नहीं जानता। कहाँ जाकर

विलुप्त हो जाएगा कश्मीरी पंडित का...डायस्पोरा?"[150] आयशा यह मानती है कि अमिता जैसी स्त्रियाँ दहशत और स्त्रियों पर लगनेवाली बंदिशों से आज़ाद हो गई हैं। कुछ हद तक यह सच भी है लेकिन इसकी बड़ी कीमत अमिता ने चुकाई है। वह क़ीमत है- अस्मिता और पहचान के छूटने की। विस्थापित स्त्रियों के प्रति प्रोफ़ेसर आयशा के यह विचार अमिता को आहत करते हैं। बेशक कश्मीर में रहनेवाली स्त्रियाँ असुरक्षा, भय और आर्थिक संघर्ष से जूझ रही हों लेकिन जो कश्मीर से निकाल दी गई उनके जीवन को बिल्कुल सामान्य मान लेना उनके साथ अन्याय है। कुछ दुःख भले बाहर से दिखाई न दे लेकिन वे भीतर-ही-भीतर व्यक्ति को खोखला कर देते हैं। अमिता जैसे विस्थापितों की भी यही स्थिति है। कश्मीर में भले ही उनका कितना भी बड़ा घर हो, संपत्ति हो लेकिन कश्मीर से बाहर वे विस्थापित हैं। यह पहचान न केवल उनके बल्कि उनकी आगामी पीढ़ियों के भी समूचे व्यक्तित्व पर किया गया वह प्रहार है, जिससे बचना या जिसे बदलना उनके लिए बहुत मुश्किल है।

'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता और 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा की तरह 'एक कोई था कहीं नहीं-सा' उपन्यास की जया को भी दुबारा कश्मीर जाने पर परायेपन का ही एहसास होता है। जया को जम्मू-कश्मीर की एक संस्था द्वारा अपने अनुभवों को साझा करने के लिए कश्मीर आमंत्रित किया जाता है। हवाईअड्डे से निकलकर जब वह टैक्सीवाले से अपनी भाषा में बात करती है तब, "अपनी ज़मीन पर अपनी भाषा में बात करने का सुख क्या होता है वह जया आज ही जान पाई थी। कश्मीरी तो वह दिल्ली और राँची में भी बोलती थी पर जाने क्यों उसे लगा कि वहाँ तो सिर्फ ध्वनि बची है अब, भाषा नहीं। शब्द, कहावतें, गीत सब वहाँ होते हुए भी लगता है यहीं छूट गए थे।"[151] अपनी ज़मीन से दूर होने की पीड़ा क्या होती है यह जया तब समझ पाती है जब वह वापस लौटकर कश्मीर जाती है। वहाँ की हर बात, हर घटना उसे यह एहसास दिलाती है कि उसने क्या खोया है, उससे क्या छिन गया है। रास्ते में जया को चिनार का वृक्ष दीखता है। वह उस वृक्ष से नीचे गिरे पत्तों को उठाकर अपने बैग में रखती है ताकि वापस जाकर अपने बच्चों को

चिनार के पत्ते दिखा सके। जया जैसे विस्थापितों की यह विडंबना ही है कि जिस चिनार के वृक्ष को देखते हुए उनका बचपन व्यतीत हुआ था उसी चिनार के टूटे-मुरझाये पत्ते उनके बच्चों के हिस्से में आएँगे। उन पत्तों को चुनते समय जया का मन उदास हो जाता है। उसके कश्मीर का घर, उस घर से जुड़ी स्मृतियाँ, उसका अपना प्रदेश और वहाँ का सौंदर्य- यह सब उसके बच्चों और उनके बाद की पीढ़ियों के लिए सिर्फ एक कहानी बनकर रह गया था।

जया अपने घर में काम करनेवाले रामखिलावन के बच्चों को एक लोकगीत गाते सुनती है। पूछने पर वे बच्चें जया को बताते हैं कि यह गीत उन्हें उनकी माँ ने सिखाया है और उनकी माँ को उनके काका ने। उनके गीत को सुनकर जया को वह गीत याद आता है जो बचपन में वह शबरी से सुना करती थी। वह अपने और रामखिलावन के बच्चों की परिस्थितियों की तुलना करते हुए सोचती है कि "ये लोग अपने बच्चों को अपनी ज़मीन, अपने घर में बैठे, गीत सिखा रहे हैं पर हम? अपनी ज़मीन, अपना घर छोड़कर भागने को मजबूर किए गये। ऐसे स्थानों के लिए जो न हमारे थे न हम उनके। सब कुछ गया तो अपनी भाषा, अपनी धरोहर, अपनी संस्कृति हम कब तक बचा पाएँगे? और ये गीत? कब तक ज़िन्दा रहेगा यह गीत कश्मीर में? क्या मेरे बच्चों के बच्चे यह गीत सीखेंगे? क्या वे अपने बच्चों को यह गीत सिखा पाएँगे? हमारी भाषा कब तक बची रह पाएगी? इस समय और किस पीढ़ी तक? और हमारी कश्मीरियत?"[152] शबरी द्वारा बचपन में सुना गया गीत जया के लिए केवल मन बहलाने का माध्यम नहीं बल्कि उसकी पहचान का हिस्सा था। वह हिस्सा जो उसके वजूद से दूर होता जा रहा था। जया की यह चिंता है कि अपनी भूमि, भाषा, संस्कृति और लोगों से इतनी दूर वह अपने लोकगीतों को कैसे और कब तक बचा पाएगी? दरअसल जया, शबरी और लल्ली जैसे पात्र विस्थापन के बाद चाहे जहाँ भी बस गए हों लेकिन वे सिर्फ वहाँ बसे थे। न वह स्थान उनका बन पाया था और न ही वे उस स्थान के हो पाएं थें। दरअसल अपने घर जाने के लिए बेचैन कश्मीरी पंडितों के लिए दुबारा कश्मीर जाने का अनुभव त्रासदीपूर्ण ही रहा है। 'शिगाफ़' उपन्यास की अमिता, 'एक कोई था कहीं नहीं-सा'

उपन्यास की जया और 'दर्दपुर' उपन्यास की सुधा,' का कश्मीर लौटना वहाँ के नागरिक के रूप में नहीं बल्कि एक विस्थापित या पर्यटक के रूप में होता है। अमिता को कश्मीर में अपने विस्थापित होने की पहचान आहत है। जया को यह महसूस होता है कि केवल उसने ही नहीं बल्कि उसके बाद की पीढ़ियों ने भी अपनी पहचान खो दी है वहीं सुधा भरोसा ही नहीं कर पाती है कि कश्मीर में वह अपने घर की जगह किसी 'गेस्ट हाउस' में रह रही है।

अस्मिता का यह संकट केवल कश्मीरी पंडितों पर ही नहीं है बल्कि कश्मीरी मुसलमानों पर भी है। उनकी पहचान भी संदेह के घेरे में आ जाती है। 'पाषाण युग' उपन्यास का इरफ़ान अंजलि से कहता है, "एक बात कि मुझे गहरी तकलीफ है। हम न हिंदुस्तान के रहे न पाकिस्तान के। हमारे बच्चों को भी अब शक की निगाह से देखा जाने लगेगा।"[153] इरफ़ान जैसे कई कश्मीरी मुसलमानों की पहचान पर भी प्रश्न चिन्ह लग जाता है क्योंकि कश्मीर में आतंक फैलाने वाले उनके समधर्मी हैं। हालाँकि इस सच से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उन्हें कुछ स्थानीय मुसलमानों का समर्थन और सहयोग प्राप्त रहा है। बावजूद इसके ऐसे भी कश्मीरी मुसलमान है जो स्वयं हिंसा और आतंक के भुक्तभोगी रहे हैं। फिर भी वह अपने पंडित दोस्तों अथवा पड़ोसियों की नज़रों में संदेह के पात्र बन जाते हैं।

'शिगाफ़' उपन्यास का पात्र मुजीब हसनैन लन्दन में हुए बम धमाके के बाद बेकसूर होते हुए भी अपने आस-पास के लोगों की नज़रों में संदेह का पात्र बन जाता है। पूछताछ की प्रक्रिया से वह केवल इसलिए बच पाता है क्योंकि उसके पास उसका पहचान पत्र था। मुजीब हसनैन किसी कार्यवाही से तो बच जाता है लेकिन उस संदेह से नहीं बच पाता जो उसके मुसलमान होने के कारण उस पर किया जाता है। मुजीब हसनैन जैसे मुसलमान केवल कश्मीर से बाहर ही नहीं बल्कि कश्मीर के भीतर भी संदेह की निगाह से देखे जाते हैं। अमिता के ब्लॉग की प्रतिक्रिया में वह लिखता है, "मैं दो साल पहले कश्मीर लौटा था मगर वहाँ जाकर लगा कि मैं एक भगोड़ा हूँ। लोगों ने, मिलिटरी, मिलिटेंट सभी ने मुझे शक से देखा। मैं वापस यहाँ आया और यहीं बस गया।

अब मैं कश्मीर के बारे में पढ़ने से बचता हूँ। मैं अपनी पहचान से बचता हूँ। वे सारी चीजें जिनसे मैं बना हूँ, उन्हें मैं नकारता हूँ। मगर मैं उस दुख का क्या करूँ जो मैं अपने साथ ले आया हूँ?"[154] मुजीब हसनैन को कश्मीर से जबरन विस्थापित नहीं किया गया लेकिन जब वह वापस लौटता है तो वहाँ सबमें अपने प्रति परायापन और संदेह महसूस करता है। अपने प्रति यह परायापन और संदेह उसे इतना आहत करता है कि वह अपनी पहचान को भुलाना चाहता है लेकिन बाहरी तौर पर भले वह अपने कश्मीरी होने की पहचान को नकार दे लेकिन उसके भीतर जो कश्मीर बचा है उसे वह चाहकर भी नहीं भूल पाता है और उसकी पीड़ा यदा-कदा बाहर आ ही जाती है।

अत: यह कहा जा सकता है कि कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में कश्मीरियों के अस्मिता संबंधी संकट और संघर्ष के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों में 'भाषाई पहचान' के संकट को भी उठाया है क्योंकि भाषाई पहचान का संकट जातीय पहचान से जुड़ा है और जातीय पहचान का संकट अपनी भूमि की पहचान से जुड़ा है। कश्मीरियों की पीड़ा और दु:ख का कारण केवल विस्थापन के बाद कैंपों का नारकीय जीवन अथवा कश्मीर में सेना और दहशतगर्दों के बीच पीसते रहना नहीं है, बल्कि पहचान का बदलकर विस्थापित और दहशतगर्द हो जाना है। विस्थापन के बाद कश्मीरी पंडितों के सामने जहाँ अपनी भाषा और संस्कृति को आनेवाली पीढ़ियों के लिए बचाए रखने का संकट है वहीं कश्मीरी मुसलमानों के भीतर स्वयं को संदेह की दृष्टि से देखे जाने से मुक्त होने की छटपटाहट है। कश्मीर में बदलते राजनैतिक एवं सामाजिक माहौल ने कश्मीरियों की पहचान को केवल कश्मीरी नहीं रहने दिया है, बल्कि उस पहचान के साथ विस्थापित, आतंकी, मुखबिर अथवा जासूस होने की पहचान भी जोड़ दी गई है। जिसके कारण उपजी पीड़ा और उससे मुक्त होने के संघर्ष को कश्मीर केन्द्रित उपन्यासों में चित्रित किया गया है।

संदर्भ:

1. दिनकर, रामधारी सिंह (2008), संस्कृति भाषा और राष्ट्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 13

2. दर, मोहन कृष्ण (1958), मनोरम कश्मीर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृष्ठ 55

3. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पृष्ठ 404

4. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 78

5. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 213

6. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 408

7. चन्द्रकान्ता (1984), ऐलान गली ज़िन्दा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 50

8. वही, 100

9. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 138

10. वही, पृष्ठ 59

11. वही, पृष्ठ 151

12. सहगल, मनमोहन (1986), नरमेध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 88

13. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 181

14. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 132

15. सहगल, मनमोहन (1986), नरमेध, वाणी प्रकाशन, नरमेध, पृष्ठ 2

16. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 56

17. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 73

18. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 188

19. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 129

20. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 130

21. पाण्डेय, अशोक कुमार (2020), कश्मीर और कश्मीरी पंडित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 311-312

22. बम्ज़ाई, पी. एन. के. (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर (वॉल्यूम-3), एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 755

23. सहगल, मनमोहन (1986), नरमेध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 14

24. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 129-130

25. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 301

26. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 131

27. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 201

28. बम्ज़ाई, पी. एन. के. (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर (वॉल्यूम-3), एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 757-758

29. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 228

30. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ vii

31. नवाज़, डॉ. निदा (2015), सिसकियाँ लेता स्वर्ग, अंतिका प्रकाशन, उत्तर प्रदेश पृष्ठ x

32. वही, पृष्ठ viii-ix

33. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 348

34. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 208

35. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 97

36. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 428

37. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 178

38. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 561

39. वही, पृष्ठ 562

40. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 171

41. वही, पृष्ठ 43

42. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 122

43. पाण्डेय, अशोक कुमार (2020), कश्मीर और कश्मीरी पंडित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 311

44. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 85

45. नवाज़, डॉ. निदा (2015), सिसकियाँ लेता स्वर्ग, अंतिका प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ 15

46. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 516

47. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 50

48. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 495-496

49. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 131

50. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 184

51. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 85

52. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 108

53. वही, पृष्ठ 103

54. वही, पृष्ठ 57

55. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 555

56. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 187

57. वही, पृष्ठ 228

58. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 105-106

59. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 21

60. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 555

61. कांकरिया, मधु (2012), सूखते चिनार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 126

62. वही, पृष्ठ 104

63. वही, पृष्ठ 108

64. https://www.hrw.org/sites/default/files/reports/INDIA935.PDF

65. बुख़ारी, मन्नान (2015) (किंडल), कश्मीर स्केयर्स ऑफ़ पैलेट गंस, पैट्रिज इंडिया, दिल्ली, पृष्ठ 126

66. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 349

67. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, फ्लैप से

68. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 585

69. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 29

70. मदन, टी. एन. (1965), फैमिली एंड किनशिप, ए स्टडी ऑफ द पंडित ऑफ रूरल कश्मीर, एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ 53

71. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 10

72. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 181

73. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 15

74. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 128

75. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 46

76. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 538

77. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 79

78. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 514

79. जुगराज, रविंद्र (2009), रक्त रंजित जम्मू कश्मीर, ज्ञान गंगा, दिल्ली, पृष्ठ 31

80. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 84

81. http://shibenraina.blogspot.com/2017/05/?m=1

82. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 69

83. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 515

84. वही, पृष्ठ 103

85. अहमद, खालिद बशीर (2017), कश्मीर: एक्स्पोजिंग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, पृष्ठ 249

86. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 197

87. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 74

88. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 151

89. वही, पृष्ठ 79

90. राय, जयश्री (2014), इक़बाल, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 32

91. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 316

92. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 307

93. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 112

94. मदन, टी.एन. (1965), फैमिली एंड किनशिप, ए स्टडी ऑफ द पंडित ऑफ रूरल कश्मीर,

एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ 77

95. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 142

96. चन्द्रकान्ता (1992), यहाँ वितस्ता बहती है, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 141

97. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 81

98. वही, पृष्ठ 14

99. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 279

100. चन्द्रकान्ता (1984), ऐलान गली ज़िन्दा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 31

101. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 289

102. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 54

103. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 314-315

104. नवाज़, डॉ. निदा (2015), सिसकियाँ लेता स्वर्ग, अंतिका प्रकाशन, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ 33-34

105. सहगल, मनमोहन (1986), नरमेध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 97

106. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 175

107. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 10

108. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 69

109. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 517

110. वही, पृष्ठ 589

111. अहमद, खालिद बशीर (2017), कश्मीर: एक्स्पोजिंग द मिथ बिहाइंड द नैरेटिव, सेज पब्लिकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली

112. पाण्डेय, अशोक कुमार (2020), कश्मीर और कश्मीरी पंडित, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ

325

113. चन्द्रकान्ता (1984), ऐलान गली ज़िन्दा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 29

114. अग्रवाल, रोहिणी (2016), हिंदी उपन्यास समय से संवाद, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 187

115. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली पृष्ठ 121

116. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 517

117. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 71-72

118. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 551

119. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 399

120. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 54

121. वही, पृष्ठ 78

122. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 527

123. अग्रवाल, रोहिणी (2016), हिंदी उपन्यास समय से संवाद, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 188

124. कांकरिया, मधु (2012), सूखते चिनार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 104

125. वही, पृष्ठ 133

126. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 224-225

127. https://www.aljazeera.com/amp/news/2013/10/12/the-dilemma- of-kashmirs-half-widows

128. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 86-87

129.https://www.aljazeera.com/amp/news/2013/10/12/the-dilemma-of-kashmirs- half-widows

130. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 78

131. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 100

132. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 77

133. वही, पृष्ठ 14

134. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 79

135. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 420

136. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 88

137. पुनियानी, राम (2005) (अनुवाद रामकिशन गुप्ता), सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एंव मिथक, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 98

138. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 56

139. चन्द्रकान्ता (2002), कथा सतीसर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 397

140. वही, पृष्ठ 152

141. सचदेव, पद्मा (1995), नौशीन, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 127

142. गिगू, सिद्धार्थ, शर्मा, वरद (सं.) (2015) अ लॉन्ग ड्रीम ऑफ़ होम, ब्लूम्सबरी प्रकाशन, पृष्ठ 3

143. चन्द्रकान्ता (1984), ऐलान गली ज़िन्दा है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 104

144. राय, जयश्री (2014), इक़बाल, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 48

145. यादव, राजेन्द्र, (सं.), हंस, जून 2009, पृष्ठ 9

146. सिंह, नामवर, ठाकुर, समीक्षा (सं.) (2006), बात-बात में बात, वाणी प्रकाशन, नई

दिल्ली, पृष्ठ 292

147. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 74

148. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 12

149. कौल, क्षमा (2004), दर्दपुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 23

150. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 87-88

151. कांत, मीरा (2009), एक कोई था कहीं नहीं-सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 204

152. वही, पृष्ठ 222

153. कौल, संजना (1998), पाषाण युग, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ 119

154. कुलश्रेष्ठ, मनीषा (2010), शिगाफ़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 60